Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संपादक
यशदेव शल्य – मुकुंद लाठ

प्रबन्ध संपादक
अंबिकादत्त शर्मा

उन्मीलन

मानसिक हिन्द स्वराज का
वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

वर्ष 19, अंक 2
जुलाई, 2005

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वर्ष 19 अंक 2

जुलाई, 2005

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

प्रबन्ध-सम्पादक

अम्बिकादत्त शर्मा

दर्शन प्रतिष्ठान

जयपुर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परामर्शदाता

1. **गोविन्दचन्द्र पांडे**, द्वारा श्री वी. के. पाण्डे, ए-90 अलकापुरी, पोस्ट आफिस भेल, भोपाल-462024
2. **दयाकृष्ण**, चौथी मंज़िल, एच.डी.एफ.सी. एन्क्लेव, अशोक मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर-302001
3. **रमेशचन्द्र शाह**, एम. 4, निराला नगर, भदभदा रोड, भोपाल-462003
4. **अशोक वाजपेयी**, सी-60, अनुपम को-आपरेटिव ग्रुप हाउसिंग सोसायटी, वसुन्धरा एन्क्लेव, दिल्ली-96

संपादक

1. **यशदेव शल्य**, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015, दूरभाष 2707493
2. **मुकुन्द लाठ**, ए 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर-302006 दूरभाष 2294737 / 2293725
3. **अम्बिकादत्त शर्मा**, बी.डी.एस. 2, गौर नगर, विश्वविद्यालय परिसर, सागर-470003 दूरभाष 07582-220587.

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 50/-
संस्थाएं : रु 75/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत : रु. 500/-
संस्थाएं : रु 5000/-

यशदेव शल्य एवं मुकुंद लाठ द्वारा दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015 के लिए विशाल कम्प्यूटर्स, जयपुर से लेजर कम्पोज़िंग तथा श्रीजी प्रिण्टर्स, नाटी इमली, वाराणसी द्वारा मुद्रित।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुक्रमणिका

1.	दर्शन-प्रदीपः सर्वविद्यानाम्	गोविन्दचन्द्र पांडे	93
2.	सत् का स्वरूप : सपेक्षता का प्रश्न	यशदेव शल्य	107
3.	धर्म और नीति : मानव कर्म के सन्दर्भ में (धर्म और नीति का युगल-भाव)	मुकुन्द लाठ	123
4.	काश्मीर शैवदर्शन : आधारभूत अवधारणा और प्रतिमानक के रूप में प्रत्यभिज्ञा की भूमिका	नवजीवन रस्तोगी	163
5.	पुस्तक समीक्षा जैन वस्तुस्वातन्त्र्यवाद, ले.अल्पना जैन	राजवीर सिंह शेखावत	186

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दर्शन — प्रदीपः सर्वविद्यानाम्[1]

गोविन्दचन्द्र पांडे

वाचं वन्दे परां शक्तिं नामरूपविभाविनीम्।
देवं च विघ्नहर्तारमीश्वरं परमं गुरुम्॥ 1॥
ईक्षान्तर्निहितार्थानामन्वीक्षा दर्शनं मतम्।
न्याय विद्यात्मविद्या च सृष्टिविद्या च भेदतः॥ 2॥
मीमांसा ज्ञानतत्त्वस्य प्रमाणानां सतोऽसतः।
धर्मस्य चात्मतत्त्वस्य सिद्धये मुक्तयेऽपि च॥ 3॥
अपरोक्षं परोक्षं च द्विविधं ज्ञानमुच्यते।
अपरोक्षं स्वरूपं यत् संविदः प्रत्यगात्मनः॥ 4॥
स एव विषयाभास उपाधिप्रतिबिम्बतः।
द्वाराणि तस्य खान्येव षट्प्रकारास्तु गोचराः॥ 5॥
पञ्चधा विषया ज्ञानं प्रत्यक्षमुपचारतः।
शब्दस्मृतिविकल्पानां योजनात् सविकल्पकम्॥ 6॥
सविकल्पा परोक्षा धीः प्रत्यक्षं मानसं पृथक्।
सर्वथा मानसं ज्ञानमैन्द्रियं तद् अपेक्षिते॥ 7॥
विशुद्धबुद्धिजा प्रज्ञा स्वतन्त्रा प्रतिभा मता।
ऋतम्भरेति या तत्त्वसाक्षात्कारस्वरूपिणी॥ 8॥
विवेकात्मा स्वबोधात्मा परविज्ञानरूपिणी।
इति भेदेषुयस्तत्र द्वितीयो व्यावहारिकः॥ 9॥
अस्यैव तु प्रभेदौ द्वौ मात्राभेद निबन्धनौ।
आद्यः शास्त्रीयविद्यात्मा द्वितीयो लौकिकस्तथा॥ 10॥
ज्ञानं परीक्षितं यत्स्यात् प्रमाणैर्लक्षणैः स्फुटम्।
व्यक्तं व्यवस्थितैर्वाक्यैः शास्त्रं विद्यापि संज्ञया॥ 11॥
सर्वविद्योपसंहार रूपं भोगापवर्गदम्।
दर्शनं सर्वविद्यानां प्रदीपोऽभिहितः पुरा॥ 12॥
धर्मविज्ञानयोः सेतुरज्ञानस्य निवर्तकम्।
विशदीकुरुते बुद्धिं जगद्-भ्रांतिं निरस्यति॥ 13॥

---

1. यह लेख पांडे जी की लेखनाधीन पुस्तक —दर्शन-विमर्श का प्रथम अध्याय है। इस पुस्तक के आगे के अध्याय उन्मीलन के आगामी अंकों में क्रमशः प्रकाशित किये जाएंगे। (सम्पादक)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनुष्य का जीवन ज्ञान के सहारे चलता है। किन्तु उसका ज्ञान बहुधा अधूरा और भ्रान्त होता है। ज्ञान के अधूरेपन को दूर करने के लिए वह विषयों का उपयुक्त साधनों के द्वारा अनुसंधान करता है। स्मृति, सम्प्रेषण और परम्परा के द्वारा अनुसंधान से उपलब्ध ज्ञान बढ़ता जाता है। साथ ही साथ इस ज्ञान की तर्क से परीक्षा होने पर और युक्तिपूर्वक व्यवस्थापित होने पर वह शास्त्रीय रूप धारण करता है। इस प्रकार अलग-अलग विषयों के अलग-अलग प्रयोजनों के अनुकूल विद्याओं का आविर्भाव होता है और सभी विद्याओं में प्रामाणिकता का आग्रह और सार्थकता का दावा रहता है। उनके स्वरूप का आकलन और परस्पर विभाजन सांस्कृतिक सन्दर्भ में होता है। आजकल विज्ञान के बाहर मानविकी के अन्दर साहित्य, कला और दर्शन को रखा जाता है। विज्ञान के अन्दर प्रकृति-विज्ञान, आकारिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान अथवा मानव-विज्ञान रखे जाते हैं। वस्तुत: इसमें दो ही प्रकार की विद्याएँ वर्गीकृत हैं–विज्ञान और विज्ञानेतर। इस विभाजन का आधार यह है कि विज्ञान प्रत्यक्ष-सिद्ध अथवा तर्क-सिद्ध वस्तुसत्ता का अनुशीलन करता है, जबकि अन्य विद्याएँ मानवीय मूल्यों के आलोचन से जुड़ी हुई हैं। वर्तमान सांस्कृतिक-दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में तथ्य और मूल्य का भेद महत्त्वपूर्ण है। इसका आधार यह है कि वही ज्ञान वस्तुनिष्ठ माना जा सकता है जो प्राकृतिक तत्त्वों पर अधिकार दिला सके। मनुष्य अपने ऊपर अधिकार प्राप्त करने के स्थान पर प्रकृति के ऊपर ही विजय प्राप्त करना चाहता है। वस्तुत: प्रत्येक सभ्यता के युग में अथवा संस्कृति में एक मूलभूत दृष्टि रही है। अनेक महान् विचारकों ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है। ह्वाइहेड ने कहा है कि प्रत्येक युग में सभी विचार के रूपों में एक व्यापक रूप रहता है, कोलिङ्.गवुड ने इसी प्रकार निरपेक्ष पूर्वाभ्युपगमों का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। गीता में जब यह कहा गया है कि श्रद्धामयोऽयं पुरुष:, या जब भगवान बुद्ध ने दृष्टि को ठीक करना साधना का पहला चरण बताया है तो, वहाँ भी इस ओर इंगित है कि प्रचलित लोक-जीवन एक प्रकार की व्यापक श्रद्धा या दृष्टि से बँधा रहता है। इसी दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में मनुष्य आत्मबोध और विश्वबोध को संस्कृति के विभिन्न रूपों में व्यक्त करता है। इस सांस्कृतिक बोध के अन्तर्गत विद्या-विभाजन सम्पन्न होता है।

विद्याओं में दर्शन को चाहे जैसे भी परिभाषित किया जाय, उसका एक पक्ष सदा ही बना रहता है, वह है आन्वीक्षिकी या न्याय-विद्या का। कौटिल्य का कहना है कि आन्वीक्षिकी सब विद्याओं का प्रदीप है। सभी विद्याओं में प्रत्यालोचनात्मकता न्यूनाधिक रूपमें रहती है। विमर्शरूपिणी विद्या।

सामान्य व्यावहारिक ज्ञान से शास्त्रीय ज्ञान या विद्या का यह अन्तर है कि शास्त्रीय ज्ञान यथाशक्य प्रत्यालोचित और परीक्षित रहता है। उसमें प्रमाण-परीक्षा, संगति-परीक्षा और युक्तिपूर्वक व्यवस्थित प्रतिपादन रहता है। आन्वीक्षिकी में ज्ञान के स्वगत विशेषों का विमर्श होता है। ज्ञान की ये विशेषताएँ अपने सामान्य रूप में ज्ञान से अवियोज्य हैं–ज्ञान के अन्तर्निहित धर्मों का विचार अन्वीक्षा का एक पक्ष है, उसका दूसरा पक्ष है ज्ञान की सत्यता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

के स्वरूप और उसकी सामान्य शर्तों पर विचार। उसका तीसरा पक्ष है ज्ञान की मूल्यवत्ता पर विचार। विषय की पदार्थ कोटियों पर विचार अन्वीक्षा का पहला प्रकार है। प्रमाण और प्रामाण्य पर विचार उसका दूसरा पक्ष है। उत्कर्षापकर्ष की दृष्टि से ज्ञान-सोपान का निरूपण अन्वीक्षा का तीसरा प्रकार है।

सभी जन्तुओं में अपने-अपने योग्य नाना विषयों का ज्ञान जिजीविषा के अनुरोध से उत्पन्न होता है। उनकी ज्ञान-शक्तियों में अद्भुत वैचित्र्य होने पर भी उनका ज्ञान उन्हें आत्मज्ञान नहीं देता। मनुष्य में इस प्रकार की संवेदन-निगड़ित ज्ञान-शक्ति के अतिरिक्त विचार और विवेक की शक्ति उसके लिए आत्मज्ञान और मुक्ति सम्भव बनाती है। मानवीय ज्ञान आत्मबोध और विश्वबोध के दो ध्रुवों में परिगृहीत है। बोध का विश्लेषण, परीक्षण और मूल्यांकन अन्वीक्षात्मक दर्शन का व्यापक तत्त्व है। यह अन्वीक्षा उस ईक्षा से भिन्न है जो विश्व के अथवा आत्मा के प्रत्यक्ष से उत्पन्न होती है। ईक्षा के द्वारा विश्व की नाना रूप वस्तु-सत्ता का अनुसंधान विज्ञान का क्षेत्र है। ईक्षात्मक आत्मानुसंधान को प्रकाशित करना आगम का क्षेत्र है, जिसके अर्थों को व्यवस्थित रूप से प्रतिपादित करना आगमानुसारी शास्त्र का कार्य है। दर्शन अपने अन्वीक्षात्मक रूप में इन दोनों में ही प्रदत्त ज्ञान के विमर्श से सामान्य और नित्य तत्त्वों और हेतुओं को खोजता है।

अन्वीक्षात्मक दर्शन ही आन्वीक्षिकी या प्राचीन न्याय-विद्या है। ज्ञान और उसमें अन्तर्निहित सामान्य तत्त्वों के विश्लेषण के रूप में यह विद्या ज्ञेय वस्तुओं के अनुसन्धानात्मक विज्ञान से भिन्न है। यह आपत्ति की जा सकती है कि ज्ञान ज्ञेय का ही एक प्रकार है और अपने आप में निराकार है। यह एक विशेष दार्शनिक मत है जिसके विरुद्ध अनेक अन्य मत हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान के विश्लेषण मात्र से तद्विषयक दार्शनिक संशयों का समाधान नहीं होता। न्याय-विद्या में सिर्फ अनुमान का आकारिक पक्ष ही ऐसा है जो सर्वमान्य होता है। जैसे ज्ञान मात्र से विशिष्ट ज्ञान का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वैसे ही ज्ञान सामान्य के विश्लेषण से अथवा अस्तित्व मात्र के विश्लेषण से ज्ञान या अस्तित्व के विषय में जिज्ञासा सन्तुष्ट नहीं होती। न वस्तु-तत्त्व के विषय में बहुत कुछ जाने या माने बिना ज्ञान या सत् का विश्लेषण ही समृद्ध हो पाता है। उदाहरण के लिए, ज्ञान में सामान्यतया विषय-विषयीभाव उपलब्ध होता है, किन्तु क्या विषयी और विषय ज्ञान के ही अन्तर्गत हैं या इनमें एक या दोनों ज्ञान के बहिर्भूत हैं ? इन प्रश्नों का समाधान विचारमात्र से ऐकान्तिक रूप से नहीं होता। कुछ विचारकों को विषयमात्र ज्ञान के बाहर प्रतीत होता है, कुछ को विषयमात्र ज्ञान के अन्दर। कुछ को यह असंदिग्ध प्रतीत होता है कि विषयी विषय से और अनित्य ज्ञान से नितान्त भिन्न है, अन्य विचारकों को विषयी भी एक प्रकार का विषय और ज्ञान का एक अंग प्रतीत होता है। विश्लेषण इन मूल प्रतीतियों से निर्देशित होता है। प्रत्येक में कठिनाइयाँ बनी रहती हैं जिन्हें वाद-विवाद के प्रसंग में उठाया जाता है और हटाया जाता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दर्शन का अनिवार्य और सहज रूप होते हुए भी आन्वीक्षिकी अपने ज्ञानमीमांसात्मक पक्ष में द्वंद्वात्मक विवादों से घिरी रहती है, यद्यपि उसका तर्कशास्त्रीय रूप सभी शास्त्रों में सहायक होता है। जिन दो ध्रुवों के बीच ज्ञान का संचरण होता है उनका सामान्य प्रतीति के आधार पर विचारात्मक अनुसंधान दर्शन को दो अतिरिक्त दिशाएँ देता है। इस प्रकार आन्विक्षिकी के साथ ही अध्यात्मविद्या और सृष्टिविद्या का विकास होता है। सृष्टिविद्या जगत् की रचना, मूलतत्त्व और हेतु खोजती है। अध्यात्मविद्या एक ओर स्वगत चैतन्य की खोज करती है, दूसरी ओर स्व और पर के सम्बन्धों से बनी सामाजिक चेतना का अनुसंधान करती है। दोनों ही दिशाओं में अन्तिम प्रश्न विचार मात्र से समाहित नहीं हो सकता। सृष्टिविद्या में विश्व के चरम हेतुओं का अनुसंधान होता है, जिसमें यह मुख्य प्रश्न है कि विश्व का एक चेतन हेतु है अथवा नहीं? ऐसे ही अध्यात्मविद्या में भी यह प्रश्न बना रहता है कि क्या कोई मन के अतिरिक्त अतीन्द्रिय चेतन सत्ता है? वह एक है या अनेक? इस प्रकार आत्मा और ईश्वर के विषय में दार्शनिक प्रश्न अनिवार्यतया उठते हैं, किन्तु वे तार्किक विचार मात्र से समाहित नहीं होते। यह स्पष्ट है कि दर्शन उपलब्ध ज्ञान और अनुभव की परिधियों से घिरा रहता है। उन परिधियों के अन्दर वह विचार से साफ सुथरी व्यवस्था बनाने में प्रयत्नशील रहता है। उसकी ठीक पद्धति क्या होनी चाहिए, उसकी अनिवार्य परिधियाँ कहाँ होनी चाहिएं, इन प्रश्नों को लेकर दार्शनिक प्रस्थानों में बहुचर्चित भेद हैं।

बुद्धि की आत्मालोचनात्मक प्रवृत्ति से जन्मा दार्शनिक चिन्तन ज्ञानमीमांसा से आगे बढ़कर ज्ञेय विश्व और ज्ञाता आत्मा की स्वरूप-जिज्ञासा में अनिवार्यतया प्रवृत्त होता है और तार्किक विचार मात्र से इस अभियान में सफल न होकर बार-बार ज्ञानालोचन की ओर फिरता है और इस प्रसंग में अनेक प्रकार की विचार-पद्धतियों का आविष्कार करता है। नाना दर्शन-प्रस्थानों के कारण दर्शन का स्वरूप भी नाना रूप में व्याख्यायित है।

जैसे संस्कृति-भेद से विद्या-विभाजन बदलता है ऐसे ही दर्शन-भेद से दर्शन की परिकल्पना। दर्शन के इतिहास पर एक संक्षिप्त दृष्टिपात से बात स्पष्ट होगी कि किस प्रकार वैचारिक और ऐतिहासिक क्रम उलझे हुए होते हैं। अपनी सहज प्रवृत्ति और सीमाओं को स्पष्ट पहचानने के लिए दर्शन को जिस मार्ग से यात्रा करनी पड़ती है वह सीधा सपाट नहीं रहा है।

भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही परम्पराओं में दर्शन एक महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय ज्ञान की विधा के रूप में प्रसिद्ध है। देश-काल के भेद से उसके महत्त्व और उसके स्वरूप के अवधारण में अनेक परिवर्तन लक्षित होते हैं। प्रारम्भ में दार्शनिक जिज्ञासा के दो प्रधान रूप रहे थे—सृष्टिविद्या और मानव-मूल्यों की समष्टि के रूप में आध्यात्मिक जिज्ञासा। सृष्टि विषयक जिज्ञासा अधिक प्राचीन रही है, क्योंकि सामाजिक जीवन के नियामक धर्म को भी अति प्राचीन काल में बाहरी विश्व के नियमों के समानान्तर एक दिव्य व्यवस्था ही माना जाता था। इसलिए वेदों में देवता और ऋत प्रायः समान कोटि के हैं और दोनों की भूमिका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सृष्टि के उन्मेष में है। इसी प्रकार यूनान में प्रारम्भिक दार्शनिक सृष्टि-विषयक जिज्ञासा करते दिखते हैं। वे धर्म विषयक संशयों से जुड़े दर्शन के दूसरे पक्ष को ईसा पूर्व पाँचवीं सदी में उजागर करते हैं। यह स्मरणीय है कि अरस्तु ने यूनान के प्रारम्भिक दार्शनिकों को प्रकृति-मीमांसक दार्शनिक कहा है। यह भी विचारणीय है कि इन दार्शनकों के मतों के सदृश मत वेदों और उपनिषदों में मिलते हैं। उदाहरण के लिए यूनान के प्रथम दार्शनिक थालेस ने मूलतत्त्व की जल के रूप में अवधारणा प्रस्तुत की थी। पाश्चात्य दार्शनिक और इतिहासवेत्ता इस जलतत्त्व को भैतिक पदार्थ के रूप में ग्रहण करते हैं और इस प्रकार थालेस को एक अविकसित वैज्ञानिक के रूप में समझते हैं। किन्तु भारतीय परम्परा में मूलतत्त्व के रूप में जल को स्थूल भौतिक जल न मानकर अव्यक्त का प्रतीक माना जाता है। इसका सबसे प्रसिद्ध निदर्शन ऋग्वेद संहिता के नासदीय सूक्त में मिलता है। वहाँ कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में न सत् था न असत्, केवल जल था। अन्यत्र भी ऋग्वेद संहिता में सृष्टि का आरम्भ जब होता है तब अन्धकारपूर्ण ठहरा हुआ जल चमकती हुई नदियों में बहने लगता है। यह सम्भव है कि यूनानी विचारकों का भी मूल मन्तव्य इसी प्रकार का रहा हो, क्योंकि अत्यन्त प्राचीन काल से सभी सभ्यताओं में यह विश्वास रहा है कि अलौकिक ज्ञान की एक धारा मनुष्य को चिरन्तन थाती के रूप में प्राप्त हुई है। यह ज्ञान-धारा नाना समुदायों में विभक्त होकर भी मूलत: एक ही है। इसका प्रमाण सभी प्राचीन धर्मों में व्याप्त समानताओं में मिलता है। अनेक मूलभूत प्रतीक भी समान रूप में मिलते हैं। इस मौलिक ज्ञान की जब पुरोहितों, आचार्यों और विद्वानों के द्वारा व्याख्याएँ रूढ़ होकर संस्थाबद्ध सम्प्रदायों में निर्धारित हो गयीं तब भेद-दृष्टि ने अभेद-दृष्टि को आच्छादित कर दिया। यूनान में इस प्रकार का परिवर्तन पाँचवीं शताब्दी ईसा-पूर्व में ही निश्चित रूप से मिलता है। वहाँ विभिन्न तार्किक दृष्टियों पर आधारित सम्प्रदायों के प्रवाह में अरस्तु ने विज्ञान-व्यवस्था को परिभाषित किया और प्रतीकात्मक चिन्तन की उपेक्षा की।

इसी प्रकार भारत में भी वैदिक प्रतीकात्मक चिन्तन-परम्परा दर्शन-सूत्रों में और बौद्ध एवं जैन दर्शनों में छोड़ दी गयी है। सांख्य दर्शन ज्ञान का विश्लेषण कर ज्ञेय विश्व और ज्ञेयाकार ज्ञान से अत्यन्त भिन्न चैतन्य को आत्मा प्रतिपादित करता है। वह ज्ञेय विश्व के सृष्टिक्रम का प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट कर देता है कि पंच-भूत की कल्पना का आधार पाँच इन्द्रियों के संवेदन ही हैं। न्याय दर्शन आन्वीक्षिकी का प्रतिपादन है, जिसमें आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है। वैशेषिक में पदार्थ-विभाग के अन्तर्गत परमाणुवाद मिलता है। मीमांसा दर्शन में धर्म की आगमिक निधि के रूप में व्याख्या के साथ वाक्य-मीमांसा मिलती है। वेदान्त में सांख्य और वैशेषिक के विरुद्ध जगत् के चेतन कारण का प्रतिपादन है, ब्रह्म और आत्मा के अभेद प्रतिपादन से सृष्टि-विद्या और अध्यात्म-विद्या जुड़ जाती हैं। बौद्ध दर्शन में सृष्टि-विद्या की उपेक्षा कर न्याय-विद्या और अध्यात्म विद्या का ही मुख्यतया प्रतिपादन है।

चीनी सभ्यता में छठी शताब्दी ईसा पूर्व में नाना दार्शनिक सम्प्रदायों का उद्भव मिलता है। उनमें मानव-समाज और आचार पर ही ध्यान मुख्यतया केन्द्रित है, यद्यपि कुछ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ध्यान तार्किक समस्याओं की ओर भी दिया गया है। बाद में भी चीनी दार्शनिक परम्परा में मानव को ही प्रधान माना गया। प्रायः एक सहस्राब्दी तक बौद्ध दर्शन के प्रचलन के बाद भी वहाँ कुंगफू के दर्शन की ही विजय हुई। इसका उत्तराधिकारी माओवादी दर्शन भी तत्त्व-मीमांसा की उपेक्षा करता है और ऐतिहासिक, सामाजिक दर्शन को ही मान्यता देता है।

इस प्रकार जहाँ अरस्तु और न्याय-वैशेषिक में दर्शन मुख्यतया न्याय-विद्या और पदार्थ-विद्या है, सांख्य और वेदान्त वहाँ अध्यात्मविद्या और सृष्टिविद्या हैं। प्रारम्भिक बौद्ध और चीनी दर्शनों में आचार मीमांसा का विभिन्न रूपों में प्रतिपादन है।

इस विमर्श से यह प्रश्न खड़ा होता है कि दार्शनिक चिन्तन का उद्भव क्या प्रकृति विषयक या मनुष्य विषयक उसी प्रकार के विस्मय या जिज्ञासा से होता है जैसे विज्ञान में? इस तरह दर्शन और विज्ञान का उद्भव क्या संयुक्त रूप में होकर क्रमशः पृथक् धाराओं में विभक्त हुआ है? दर्शन को विज्ञान के समान प्रत्यक्ष और तर्कमात्र पर आधारित ज्ञान-व्यवस्था मानने पर दर्शन की सुप्रसिद्ध स्वायत्तता ही नष्ट हो जाएगी। वैज्ञानिक ज्ञान का विषय प्रकृति है, उसकी पद्धति प्रत्यक्ष और तर्क पर आधारित है, उसके निष्कर्ष सामान्य नियमों के रूप में होते हैं। इन नियमों के अनुसार कारणों के आधार पर भावी कार्यों का अनुमान सम्भव है और कारणों के परिचालन से कार्यों का एक सीमा तक नियन्त्रण भी किया जा सकता है। वैज्ञानिक ज्ञान के प्रामाण्य की कसौटी प्रत्यक्षाव्यभचारिता है। इस सन्दर्भ में प्रकृति का अर्थ ऐन्द्रिय-संवेदनों में प्रदत्त और मानवीय चेतना से स्वतन्त्र विषय सत्ता है। मनुष्य भी अपने दैहिक रूप में प्रकृति के अन्तर्गत है, किन्तु एक मनोजीवी प्राणी के रूप में वह प्रकृति के अन्दर नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उस रूप में वह ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का गोचर नहीं है।

यह आपत्ति हो सकती है कि विज्ञान के विषय को प्रकृति तक सीमित करना सही नहीं है, क्योंकि आजकल विज्ञान को उसकी प्रणाली से परिभाषित किया जाता है, न कि उसके विषय से। विषयतः विज्ञान सर्वव्यापी है, चूँकि विज्ञान ही एकमात्र सही ज्ञान है, इसलिए विज्ञान की प्रणाली और सही ज्ञान की प्रणाली भी एक ही है। इस धारणा के अनुसार, जो कि विज्ञान और सम्यक् ज्ञान में भेद नहीं करती और प्रमाणों को ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और तर्क तक सीमित करती है, वैज्ञानिक ज्ञान के एकाधिक प्रकार हैं। किसी विषय में तथ्यों का संग्रह उस विषय के ज्ञान की पहली अवस्था है। तथ्यों के वर्गीकरण और व्यवस्थापन से उसकी दूसरी अवस्था प्रकट होती है। जब तथ्यों को किसी मूलभूत तत्त्व-व्यवस्था पर आधारित प्रदर्शित किया जा सकता है तब ज्ञान शास्त्रीय विज्ञान का रूप धारण करता है। आधुनिक भौतिकी इस प्रकार के शास्त्रीय विज्ञान का आदर्श प्रस्तुत करती है। जीव-विज्ञान इस प्रकार के शास्त्रीय रूप को प्राप्त करने के प्रयत्न में है। मनोविज्ञान और समाज-विज्ञान अभी तथ्य-संग्रह और वर्गीकरण की स्थिति में हैं। उनमें अभिकल्पनाओं का प्राचुर्य होने पर भी अभी प्रत्यक्ष से समर्थित निश्चयात्मकता नहीं है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

समाज-विज्ञानों में सबसे अधिक विकसित अर्थशास्त्र है। किन्तु अर्थशास्त्र के इकोनोमीट्री जैसे विभाग में भी अभी स्थिरांक परिस्थिति-सापेक्ष रूप से ही उपलब्ध होते हैं। मनोविज्ञान में न्यायानुकूल चिन्तन का संगणकीय प्रतिरूपण अभी निश्चयात्मक रूप से समस्त गणितीय चिन्तन को आत्मसात् नहीं करता। भाषा के प्रतिरूपण के विषय में भी यही स्थिति है। यह स्पष्ट है कि समस्त सामाजिक और मानसिक जीवन का विज्ञान अभी बहुत प्रगति नहीं कर पाया है, किन्तु प्रचलित वैज्ञानिक दृष्टि इस लक्ष्य को भविष्य में साध्य मानती है।

द्रव्यसत् भौतिक पदार्थों के विषय में यह मत अनापत्तिजनक है, इसका प्रमाण भौतिक विज्ञान की आश्चर्यजनक प्रगति है। जैविक, सामाजिक और मानसिक क्षेत्रों में जैसे-जैसे विषय भौतिकता से दूर हटते हैं, विज्ञान की प्रगति भी कम होती जाती है और इससे यह बात अनायास सूझती है कि अभौतिक क्षेत्र में आधुनिक विज्ञान की पद्धति पूरी तरह कारगर नहीं होती। वस्तुतः सत्ता के उच्चतर आयामों का निम्नतर स्तरों में विलयन कर सर्वग्रासी भौतिकी की प्रस्तुति से उच्चतर आयामों के स्वायत्त और विशिष्ट गुणों का बोध लुप्त हो जाता है। रक्तचाप के दैहिक कारण को जानने से उस अवस्था की मनोवैज्ञानिक विशेषता पर प्रकाश नहीं पड़ता। मनुष्यों की बलपूर्वक रोकथाम से नैतिकता की अभिवृद्धि नहीं की जा सकती। कम्प्यूटरीकृत संगीत से संगीत की उदात्त मौलिक रचना सम्भव नहीं है। विलयनवाद सत्ता के आयामों को यथावत् प्रकाशित करने के स्थान पर एक स्थूल हस्तावलेप प्रस्तुत करता है। इससे यह भी पता चलता है कि अभौतिक विषयों के ज्ञान के ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और तर्क के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की भी आवश्यकता है।

इस प्रसंग में भौतिक और प्राकृतिक एक ही कोटि के विषय हैं। दोनों साक्षात् अथवा परम्परा या प्रत्यक्ष से उपलब्धि के योग्य हैं। प्रत्यक्ष-दृष्ट पदार्थों के हेतु के रूप में जिन शक्तियों, आकारों और नियमों की तर्क के द्वारा कल्पना की जाती है उन सबका याथार्थ्य और सीमाएँ किसी न किसी प्रकार के प्रत्यक्ष प्रयोग से सकारात्मक अथवा नकारात्मक रूप से उपपात्य होती हैं। विज्ञान के बुद्धिगोचर तत्त्व प्रत्यक्षगोचर सत्ता के परतन्त्र होते हैं। यह परतन्त्रता कहीं कार्य-कारण भाव के अन्तर्गत होती है, जैसे शक्तियों के रूप में कल्पित विषयों की, कहीं यह तत्त्वों की प्रत्यक्ष अर्थों में संवेतता होती है, जैसे आकृतियों की। यहाँ ये तीन नियमों से व्याप्य हैं (भौतिक पिण्ड, आकृति, शक्ति)। विज्ञान के मूलतत्त्व स्वतन्त्र नहीं कहे जा सकते। न कोई ऐसे ज्ञान की विधि है जो भौतिक विश्व को स्वतन्त्र तत्त्व से निगमित कर सके। प्रत्यक्ष गोचर विश्व की व्यावृत्तियों और हेतुओं के रूप में ही विज्ञान के तत्त्व उपलब्ध होते हैं।

एक प्रकार से ज्ञान की तात्त्विक एकरूपता का पक्ष पारम्परिक दर्शन में स्वीकृत है। वहाँ भी उन्हीं प्रमाणों से प्राप्त और व्यवस्थित सम्यक् ज्ञान शास्त्र कहलाता है। सभी विद्याएँ ज्ञान शास्त्र के ही भेद हैं, किन्तु पारम्परिक चिन्तन में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष और शब्द-प्रमाण प्रायः स्वीकार किये जाते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

प्रामाणिक ज्ञान व्यवस्थित होकर शास्त्र का रूप धारण करता है। विषय और प्रयोजन के अनुसार शास्त्र अनेक विद्याओं में विभक्त हो जाते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, विद्या के तीन मुख्य विभाग विज्ञान, धर्म और दर्शन हैं। विज्ञान दृश्य जगत् का ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और तर्क के द्वारा अनुसंधान करता है। उसके अवान्तर विभागों में प्रकृति-विज्ञान और मानव-विज्ञान हैं। गणितशास्त्र प्रायः तर्क मात्र पर आधारित विज्ञान है, जैसे आकारिक तर्कशास्त्र। गणित संख्या, आकार, परिमाण आदि साधारण गुणों के तात्त्विक नियमों का अनुसंधान करने से दृश्य जगत् से जुड़ा रहता है। पश्चिमी दर्शन-परम्परा में बहुधा गणित को जो विज्ञान का प्रतिमान माना गया है वह यूक्लिड के एक्स्योमेटिक रेखा-गणित के प्रतिदर्श से आरम्भ हुआ है। रसल ने गणित को विशुद्ध तर्क शास्त्र का ही विस्तार बताया है। इन मतों में गणित का आरम्भ स्वतःसिद्ध प्रतिपत्तियों में और उसका विस्तार विशुद्ध निगमनात्मक पद्धति से माना गया है,किन्तु ऐसा मानने पर गणित सिद्धसाधन (टॉटॉलॉजी) मात्र बन जाएगा, उसमें प्रतिभा के द्वारा विषय विशेष का साक्षात्कार नहीं माना जाएगा। संख्या को वर्ग के वर्ग (क्लास ऑफ क्लासिस) के द्वारा परिभाषित करने में अथवा समाहार (सेट) के द्वारा परिभाषित करने में संख्या का ही पूर्व उपगम हो जाता है, क्योंकि उन सब परिभाषाओं में एक और अनेक या बहु की प्रतीति स्पष्ट रहती है। वस्तुतः संख्या, दिशा या परत्वापरत्व की प्रतीतियों का सरलीकरण नहीं हो सकता। इसी प्रकार की सामान्य प्रतीतियाँ गणित में बुद्धिगोचर विश्लेषित होती हैं। अनेक भारतीय दर्शनों में मन को भी इन्द्रियवत् मानकर उसके अतीन्द्रिय विषय स्वीकार किये जाते हैं। बौद्ध दर्शन में ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय रूप कहे जाते हैं और मानस प्रत्यक्ष के विषय धर्म। संख्या आदि धर्म चित्त-विप्रयुक्त माने जाते हैं और इनकी सत्ता को सौत्रान्तिक सिर्फ प्रज्ञप्ति-सिद्ध मानते हैं। अस्तु, यह विज्ञान का अनुषंगी विज्ञान बन जाता है। आकारिक तर्कशास्त्र सभी विद्याओं में उपयोगी होता है। चिकित्सा शास्त्र, भाषा शास्त्र आदि भी विज्ञान के ही अंग हैं, यद्यपि इनमें शब्द-प्रमाण का उपयोग होता है, जिससे मनुष्य के संवेदनों और व्यवहार के अर्थों का पता चलता है। इसी प्रकार सभी प्रकार के सामाजिक विज्ञानों में कायिक और वाचिक विज्ञप्तियों का उपयोग होता है। प्रकृति विज्ञान के अतिरिक्त जो व्यवहार प्रत्यक्ष का विषय होता है वह शब्द-सम्पृक्त और विज्ञप्ति रूप होता है। इसीलिए मैक्सवेबर जैसे उत्कृष्ट समाज शास्त्रियों ने मानव-व्यवहार को सार्थक मानकर उसके अर्थ को समझने पर ज़ोर दिया है। यह उस अतिवाद का खण्डन करता है जो मानव-चेष्टाओं को सिर्फ प्रत्यक्ष-ग्राह्य मानता है और आन्तरिक संवेद्यों को भी अन्य प्रत्यक्ष के योग्य।

मन, चैतन्य, आत्मा, परलोक, ज्ञान, प्रमाण, प्रामाण्य आदि अनेक पदार्थ अतीन्द्रिय हैं। उनका ऐन्द्रिय पदार्थों में विलयन नहीं किया जा सकता, न अनुमानमात्र से उनका निश्चित या स्वरूपगत परिचय प्राप्त हो सकता है, अतएव उनके ज्ञान के लिए अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष और आगम को प्रायः स्वीकार किया जाता है। यही कारण है कि महर्षि वात्स्यायन ने दार्शनिक अन्वीक्षा के दो आधार बताये हैं–प्रत्यक्ष और आगम। धर्म इन्द्रियातीत सत्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

का अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष और शब्द-प्रमाण के द्वारा अनुसंधान प्राप्त करता है। दर्शन विज्ञान और धर्म के द्वारा उपनीत ज्ञान के समन्वित विमर्श से ज्ञान, अस्तित्व और श्रेयस् के मूलतत्त्व की खोज करता है। प्रणाली की दृष्टि से वह द्वितीय स्तरीय ज्ञान हो जाता है। यद्यपि सभी विद्याएँ विमर्शात्मक होती हैं, दर्शन सविशेष रूप से विमर्शात्मक है। दार्शनिक स्वयं वैज्ञानिक अथवा धर्मवेत्ता के समान साक्षात्कार नहीं करता, वह वैज्ञानिकों और धर्म-प्रवर्त्तकों के उपलब्ध ज्ञान की मीमांसा करता है।

इसके विपरीत यह एक प्रसिद्ध मत है कि दर्शन और विज्ञान एकसमान कौतूहल या जिज्ञासा से उत्पन्न हुए, फिर क्रमशः अलग हो गये। जैसे धर्म और जादू। पर प्रश्न यह है कि क्या विज्ञान और दर्शन एक ही प्रकार के विस्मय या कौतूहल और उनकी क्रमशः विकसित हुई मूलतः ज्ञान की दो पृथक् धाराएँ रहे हैं? अनेक इतिहासकार पहले विकल्प को उसी प्रकार स्वीकार करते हैं जैसे वे जादू और धर्म की उत्पत्ति को भी समान मानते हैं और यह मानते हैं कि भ्रान्तिमूलक जादू क्रमशः तिरस्कृत हो गया है। वस्तुतः दर्शन और विज्ञान तथा धर्म और जादू इनमें स्वरूपगत अन्तर है। विज्ञान का मुख्य विषय दृष्ट जगत् है, उसका प्रयोजन दृष्ट जगत् पर मनुष्य को शक्ति प्रदान करना है। दर्शन मूलतः अदृष्टपरक रहा है, उसका प्रयोजन मनुष्य को ज्ञान के द्वारा मुक्ति प्रदान करना है। ऐसे ही धर्म श्रद्धापूर्वक देवता के लिए आत्मसमर्पण है जबकि जादू अदृश्य शक्तियों को अपने वश में कर उनके द्वारा व्यावहारिक कार्यों को कर सकना है। एक दृष्टि से दृष्ट जगत् के प्रभावों पर शक्ति प्राप्त करना विज्ञान और जादू में समान है जबकि धर्म और दर्शन दोनों अदृश्य तत्त्वों का अनुसंधान करते हैं। किन्तु इस अनुसंधान की तार्किकता से दर्शन को विज्ञान से तुलनीय होना चाहिए। विज्ञान वस्तुसत्ता का अन्वेषण करता है, दर्शन ज्ञान के अन्तर्निहित तत्त्वों का विमर्श। दर्शन उपलब्ध ज्ञान और प्रचलित मतों की तार्किक परीक्षा के द्वारा प्रवृत्त होता है। वह व्यावहारिक ज्ञान अथवा विज्ञान में वृद्धि नहीं करता किन्तु उनके मूल आधार संगति और सीमाओं की खोज करता है। व्यावहारिक ज्ञान क्या सच्चा है? विज्ञान की क्या सीमाएँ हैं? इस तरह के प्रश्न दार्शनिक जिज्ञासा से अनिवार्यतया जन्मते हैं।

दर्शन के उद्भव की एक वैकल्पिक परिभाषा भारतीय और रहस्यवादी दर्शनों के आधार पर की जा सकती है जो मानव-परम्परा में अनुस्यूत हैं। मौलिक अर्थ में आम्नाय, आगम अथवा वेद का अर्थ है–एक ऐसी अतीन्द्रिय साक्षात्कारात्मक ज्ञान की उपदेशात्मक परम्परा जिसका मूल लेखन-कला और नागरिक सभ्यता से अधिक प्राचीन समाजों में विद्यमान था और अभी भी सभी सभ्यताओं में रहस्यवेत्ताओं के पास किसी न किसी रूप में सुरक्षित है। भौतिक पश्चिमी सभ्यता में भी प्लोटिनस से मध्यकालीन संतों और आधुनिक रहस्यवेत्ताओं तक इसका पता चलता है। इसी को ऑल्डस हक्स्ले फिलोसोफिया पेरेनिस कहते हैं, कुमारास्वामी मेटाफिज़िक्स कहते हैं, मुस्लिम और चीनी सभ्यताओं में भी इसकी विद्यमानता असंदिग्ध है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह सनातन विद्या विश्वजनीन होते हुए भी इसकी सर्वप्रथम अवधारणा भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध होती है। यह वेदान्त, सांख्य, योग, बौद्ध, जैन आगम, तन्त्र और सिद्ध सन्त साहित्य एवं आधुनिक मनीषियों की वाणी में उपलब्ध होती है।

यह प्रतीत होता है कि दार्शनिक परम्परा के दो मुख्य विभाजन हैं। एक ओर दर्शन शुष्क तर्क पर आधारित तत्त्वज्ञान की परम्परा है और दूसरी ओर वह आगम पर आधारित सनातन अतीन्द्रिय तत्त्वज्ञान की परम्परा है। आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक और उनके भारतीय अनुयायी पहली परम्परा को ही दर्शन की परम्परा स्वीकार करते हैं। वे आगममूलक सनातन विद्या को श्रद्धामूलक धर्म विज्ञान या थियोलोजी की संज्ञा देते हैं। भारतीय दर्शन में भी आगमानुसारी और न्यायानुसारी दर्शनों का भेद अविदित नहीं है। किन्तु सामान्यतया सभी भारतीय दर्शनों में, चार्वाक के दर्शन को छोड़कर, शब्द-प्रमाण किसी न किसी रूप में स्वीकृत है। जो बौद्ध दार्शनिक शब्द को प्रमाण नहीं मानते वे भी सर्वज्ञ बुद्ध को प्रमाण मानते हैं। जैनों में भी केवली का ज्ञान अन्तिम प्रमाण है। इस सन्दर्भ में तर्कोपनीत निर्णय के लिए शब्द-प्रमाण की अवधारणा का विवेचन आवश्यक है जो यथासमय किया जायेगा।

न्याय दर्शन के प्रसिद्ध दार्शनिक वात्स्यायन ने जिन दो आधारों का उल्लेख किया है उनमें कोई अपरिहार्य विरोध उन्होंने नहीं माना है। अध्यात्मविद्या के अनेक अतीन्द्रिय तत्त्वों का न्याय के द्वारा प्रतिपादन न्यायदर्शन में मिलता है, जहाँ आत्मा, ईश्वर, पुनर्जन्म और मोक्ष की तार्किक युक्तियों से सिद्धि की गई है। यह स्मरणीय है कि शंकराचार्य ने बृहदारण्यक भाष्य के उपोद्घात में यह कहा है कि जिन अतीन्द्रिय सत्यों का न्याय विद्या प्रतिपादन करती है उसमें वह आगम-सिद्ध तत्त्वों की ऋणी है। आत्मा, ईश्वर, पुनर्जन्म जैसे अतीन्द्रिय सत्यों का तर्कमात्र से साधन किया जा सकता है यह एक विवादास्पद विषय है, जिस पर आगे विचार किया जायेगा।

तत्त्व-जिज्ञासा दोनों प्रकार के दर्शनों में समान है। जिज्ञासा अनिवार्यतया प्रमाणों का आधार ग्रहण कर सामान्यत: ज्ञान-विषय के संभावित विशेषों पर युक्ति-प्रतियुक्ति के द्वारा विचार करती है और संगति एवं प्रमाण खोजती है। इस प्रकार जिज्ञासा अनिवार्यत: अपने मुख्य कलेवर में तार्किक होती है। किन्तु वह असन्दिग्ध ज्ञान को भी पूर्वाक्षिप्त करती है। विभिन्न तार्किक जिज्ञासा-पद्धतियों में भेद उनमें स्वीकृत प्रमाणों की मान्यता से जुड़ा है। शुष्क तार्किक जिज्ञासा प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण मानती है न कि शब्द या आगम को। किन्तु किसी कथन के स्वीकार या अस्वीकार के मूल में भी अनुभव का एक प्रकार का तार्किक मूल्यांकन बना रहता है। इस दृष्टि से भी सभी दार्शनिक जिज्ञासा की मूल प्रवृत्ति अनुभव में अन्तर्निहित किन्तु अप्रत्यक्ष तत्त्वों और हेतुओं की खोज है।

दर्शन जिज्ञासात्मक है यह निर्विवाद है। जिज्ञासा संशय और कौतूहल से उत्पन्न होती है। कौतूहल यत्किंचित् विस्मयकारी अथवा प्रयोजनानुकूल विषय के प्रति हो सकता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जैसे ऊपर कहा गया है कि संशय सामान्यतया विज्ञात अर्थ में तद्गत विशेष के प्रति उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए सामने खड़ी हुई आकृति खम्भा है या ठूँठ है या पुरुष है, इस तरह का संशय उत्पन्न हो सकता है। जगत् में परिवर्तन और अपरिवर्तन दोनों दिखते हैं। क्या जगत् की कोई निश्चित उत्पत्ति थी और यदि थी तो उसका हेतु चेतन था या अचेतन? इस प्रकार का संशय विचारशील जिज्ञासुओं के मन में उत्पन्न होता है। विचारशील जिज्ञासु के पूर्व संशय का आधार कुछ ज्ञान और कुछ अज्ञान होता है। प्राय: सभी ज्ञानों के साथ भ्रम की सम्भावना रहती है। इसलिए किसी भी प्रतीयमान् अथवा अविचारित ज्ञान के पति भी संशय का उदित होना स्वाभाविक है। ज्ञान की सत्यता के लिए उसकी प्रमाण से सिद्धि होनी चाहिए और स्वत: अथवा ज्ञानान्तर से उसका बाध नहीं होना चाहिए। फलत: जिज्ञासा की पहली शर्त है कि जिज्ञासित विषय से किसी न किसी प्रकार से जुड़ा हुआ कुछ ज्ञान होना चाहिए। इस ज्ञान की फिर प्रमाणों से परीक्षा होनी चाहिए। यदि प्रारम्भिक को ज्ञान (ईक्षा) कहा जाये तो दार्शनिक जिज्ञासा अन्वीक्षात्मक हो जाती है, उसमें उपलब्ध ज्ञान की प्रमाण की दृष्टि से परीक्षा की जाती है।

यह सम्भव है कि जिज्ञासा का परिणाम यह हो कि जिज्ञासित विषय उपलब्ध ज्ञान पर विचार के द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता हो बल्कि उसके लिए आरम्भिक ज्ञान का उन्हीं प्रमाणों से परिवर्द्धन आवश्यक हो जिनसे वह प्राप्त हुआ था। उदाहरण के लिए यह ज्ञात है कि जल ठण्डा होकर हिम बन जाता है और तप्त होकर वाष्प बन जाता है। कितने ताप से वह वाष्प बनेगा कितनी ठण्ड से बर्फ बनेगा, इसका यथावत् ज्ञान विचार से प्राप्त नहीं हो सकता, इसके लिए प्रयोगात्मक प्रत्यक्ष की आवश्यकता है। तथ्यों की जानकारी के द्वारा जिज्ञासा के समाधान की यह दिशा दर्शन की न होकर विज्ञान की है। दार्शनिक जिज्ञासा का मुख्य साधन प्रत्यक्ष या प्रयोग न होकर अनुमान और विचार ही हैं। इसका कारण यह है कि दार्शनिक जिज्ञासा का विषय तथ्यात्मक जानकारी न होकर तात्त्विक जानकारी है। यह घट है और उसे हम प्रत्यक्ष से जानते हैं। घट का हेतु मिट्टी कुम्हार आदि हैं, यह हम अनुमान से जानते हैं, घट में घटत्व है और वह नित्य है, यह दार्शनिक तत्त्व है, उसका ज्ञान विचार से होता है। इस प्रकार के दार्शनिक विचार में तार्किकता होने पर भी वैसी तार्किक अनिवार्यता नहीं है जैसी गणित में होती है। न उसमें वाद प्रत्यक्ष से सत्यापनीय होता है। गणितीय तर्क पूर्वस्वीकृत परिभाषाओं और नियमों पर ही आधारित होता है, उसमें अन्तर्निहित अनुभव सिर्फ देश, काल, संख्या, परिमाण, आकार मात्र के विषय में होता है। इसमें प्रत्यक्ष, संवेद या विशेष गुण जिज्ञासा के विषय नहीं होते। घटत्व नित्य है अथवा है ही नहीं, इस प्रकार के वादों में तार्किक अनिवार्यता नहीं होती।

आजकल दर्शन और विज्ञान में अन्तर क्रिया जाता है। विज्ञान आकारिक या प्रयोगात्मक ज्ञान होता है। इसकी परिणति विश्व के अथवा तार्किक विचार के नियमों के प्रकाशन में होती है। वस्तुसत्ता और तर्क-बुद्धि-गोचर तत्त्व विज्ञान के विषय होते हैं। इस प्रकार अनुभव-सिद्ध अथवा तर्क-सिद्ध पदार्थों का अव्यभिचारी ज्ञान विज्ञान कहा जा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सकता है। प्रश्न उठता है कि विज्ञान के बाहर दर्शन कहाँ सावकाश होगा? पहले तो दर्शन ज्ञान के विषयों तथा ज्ञान और ज्ञाता की समग्रता को स्थापित करता है। प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता ये चतुर्विध अर्थ दर्शन के विषय हैं। विज्ञान पृथक्-पृथक् जातियों के विषयों को लेकर अनेक शाखाओं में प्रवृत्त होता है, इसलिए विज्ञान एक न होकर अनेक हैं और ये अनेक विज्ञान अभी तक एक महाविज्ञान के अंग नहीं बन पाये हैं। दर्शन प्रदत्त विशेषों से आरम्भ न होकर विचार-गोचर सामान्यतम विषय से आरम्भ करता है। यथा-शक्य सामान्यतम ही दार्शनिक जिज्ञासा का वेद्य होता है। प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता के विभाजन के अनुसार दर्शन की प्रथम जिज्ञासा है प्रमाण। अथवा सत्य ज्ञान के साधनों के विषय में यह अवधेय है कि यद्यपि प्रत्यक्ष के देहस्थ करण और प्रक्रिया वैज्ञानिक अनुसंधान के विषय हैं किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान तथा लक्षण और उससे जुड़ी हुई सत्य, असत्य विषयक सविकल्पक-निर्विकल्पक भेद से जुड़ी समस्याएँ विज्ञान का विषय न होकर दर्शन का विषय है, क्योंकि ये अनुभव के विमर्श पर ही आधारित हैं। ऐसे ही, यद्यपि अनुमान का आकारिक पक्ष विज्ञान का विषय है, यह विचार-प्रक्रिया और न्यायोपपन्नता के विषय में तात्त्विक विवेचन का विषय है। यह भेद आजकल आकारिक तर्क और दार्शनिक तर्क के बीच किया जाता है। प्रमेय पर दार्शनिक विचार भाव, अभाव, सत्ता आदि सामान्यतम विषयानुगत धर्मों का विश्लेषण करता है। प्रमेय-विभाजन की कोटियाँ और उनके सम्बन्ध, द्रव्य, गुण, कर्म, सम्बन्ध, सामान्य, विशेष आदि पदार्थों का विवेचन दर्शन के ही अन्तर्गत होता है। यह पदार्थ-विभाग कितना वस्तुसत्ता पर आधारित है कितना भाषा की प्रवृत्तियों पर, कितना मन की वासना पर, कितना ज्ञान के स्वरूप पर, यह दर्शन का एक निगूढ़ प्रश्न है। विज्ञान में भौतिक द्रव्यों से उनके नियामक कार्य-कारण सम्बन्धों का विवेचन होता है। गणित में संख्या, आकार आदि का विवेचन होता है। गणित के विषय और स्वरूप पर प्रचुर दार्शनिक विवाद है। इनमें गणितज्ञों ने भी महत्त्वपूर्ण भाग लिया है, किन्तु गणित के विषय में सिद्धान्तों को गणित का अंग कहना कठिन है। ज्ञान के विषय में सामान्य विवेचन दर्शन का ही विषय है जिसमें धर्म, दृष्ट और अदृष्ट तत्त्वों का सम्बन्ध, विधि, निषेध, कथन और अभिप्राय, ज्ञान का ज्ञाता और ज्ञेय से सम्बन्ध, सत्य और असत्य, श्रेयस् और प्रेयस् का सम्बन्ध आदि समस्याओं पर विचार किया जाता है। प्रमाता का अनुसंधान देह, मन आदि के रूप में तो विज्ञान का विषय बनता है किन्तु उस विवेचन में प्रमाता एक प्रमेय के रूप में अवधारित होता है। प्रमाता का केवल ग्राहक के रूप में, या प्रमिति-साक्षी के रूप में, अथवा नित्य चैतन्य के रूप में विभिन्न दर्शनों में अनुसंधान किया जाता है। संक्षेप में, दार्शनिक विचार के मुख्य विषय हैं सत्ता, ज्ञान और आत्मा अथवा चैतन्य।

दर्शन में इनका लक्षण और प्रमाण के द्वारा सामान्यतम रूप में विचार किया जाता है। सत्ता-मीमांसा, ज्ञान-मीमांसा, आत्म-मीमांसा दर्शन की ही मुख्य शाखाएँ बन जाती हैं। सत्तामीमांसा से जुड़ी हुई है सृष्टिमीमांसा। ज्ञानमीमांसा से प्रमाणविद्या अथवा न्याय-विद्या।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्म-मीमांसा के अन्तर्गत न केवल आत्म-मीमांसा आती है बल्कि धर्म, नीति, कला आदि जीव-व्यवहार के विभिन्न पक्ष भी रहते हैं।

इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि दार्शनिक ज्ञान व्यावहारिक ज्ञान से भिन्न है। अन्ततोगत्वा उसमें अनुभव के विमर्श पर आधारित समस्त व्यवहार का मूल्यांकन भी है। आजकल इसकी उपयोगिता बुद्धि-वैशारद्य अथवा आलोचनात्मक प्रखरता के लिए नहीं मानी जाती है, बल्कि उसका उपयोग विज्ञान के समर्थन के लिए अथवा धर्म और अदृष्ट तत्त्व-विद्या के निरास के लिए माना जाता है। पारम्परिक दृष्टि से दर्शन की उपयोगिता मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने में है।

दार्शनिक विचार के प्रश्न और उसके तरीके सदा एक से नहीं रहे हैं। ज्ञान के सन्दर्भ में दर्शन की पृथक् शास्त्र के रूप में अवधारणा और शास्त्र के अन्दर शाखा-भेद और उसके प्रतिपादन में प्रस्थान-भेद बदलते रहे हैं। ये बदलाव ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य से जुड़े रहे हैं और विचार की अवस्थाओं और दिशाओं में दार्शनिक चिन्तन की सापेक्षता को हम कुछ उदाहरणों से प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

जहाँ यूनान के प्राचीन दार्शनिक प्रकृति के मूल तत्त्व की जिज्ञासा करते हैं वहाँ सोफिस्टों के समय में मानवीय आचार, व्यवहार और स्वभाव के मूल तत्त्वों की जिज्ञासा प्रधान हो जाती है। मध्यकाल में ईश्वर ही परम जिज्ञास्य बन गया। आधुनिक युग में वहाँ दर्शन क्रमशः तत्त्व-मीमांसा से हटकर तर्कशास्त्र से अभिन्न बनता जा रहा है। भारतीय परम्परा में दर्शन का आरम्भ ब्रह्म विद्या से हुआ और मुक्ति का प्रश्न ही उसका मुख्य बिन्दु निरन्तर बना रहा। क्रमशः प्रमाण-विद्या का महत्त्व बढ़ता गया तथा आस्तिक-नास्तिक एवं द्वैत-अद्वैत, कर्म और सन्न्यास के पक्षधरों के बीच शास्त्रार्थ चलता रहा। भारतीय दर्शन की परम्परा के चार चरण आसानी से बताये जा सकते हैं। प्रथम चरण में प्राथमिक विशुद्ध ब्रह्म-विद्या प्रधान थी। दूसरे चरण में जबकि बौद्ध दर्शन की चुनौती प्रायः 1500 वर्ष तक आस्तिक दर्शनों क सामने बनी रही, मुख्य प्रश्न आत्मा-अनात्मा एवं कर्म और सन्न्यास इन पक्षों के बीच शास्त्रार्थ का विषय था। तीसरे चरण में बौद्ध धर्म के तिरोहित होने के कारण और भक्ति के विकास के कारण ब्रह्म-द्वैत और ईश्वरवादी द्वैत आदि दर्शनों का शास्त्रार्थ था। आधुनिक चरण में भारतीय दर्शन में पारम्परिक और पाश्चात्य निष्ठाओं का संघर्ष देखा जा सकता है। यह नहीं है कि सब प्रश्न या प्रवृत्तियाँ सर्वथा नये या पुराने होते हैं, परन्तु उनमें युग-भेद और दृष्टि-भेद से गौण-प्रधान भाव होता है। दार्शनिक प्रवृत्तियों के नियामक के रूप में दृष्टि-भेद ही प्रधान रहता है। वाद युक्तियों पर निर्भर करते हैं किन्तु युक्तियों का मूल्यांकन उपलब्ध ज्ञान एवं उपात्त दृष्टि पर निर्भर करता है। 'यदि पृथ्वी गोल होती तो उस पर चलने वाली गाड़ियाँ फिसलने लगतीं', यह युक्ति ज्ञान के विरुद्ध होने के कारण अश्रद्धेय है। सुप्रसिद्ध सहोपलम्भ नियम रूप युक्ति का बलाबल विचार एक गम्भीरतर तत्त्वमीमांसात्मक दृष्टि पर निर्भर करता है। जब काण्ट ने ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में कोपरिनकी क्रान्ति का उल्लेख किया तो वहाँ भी आशय दृष्टि-भेद से ही था।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यह निर्विवाद है कि दर्शन ज्ञान की एक विधा है न कि भावना की या कर्म की। किन्तु न तो दर्शन उस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान है जिसे सब एक रूप से उपलब्ध कर एकमत हो सकते हैं और न वह उस प्रकार का तार्किक ज्ञान जैसा गणित में उपलब्ध होता है, जिसके विषय में भी विवाद सावकाश नहीं होता। इसी कारण 'सब कौए काले होते हैं' या 'सब मनुष्य मरणशील होते हैं' ये दार्शनिक ज्ञान के उदाहरण नहीं हैं। इस प्रकार के ज्ञान को पूर्वसिद्ध मानकर तो दार्शनिक विचार आरम्भ होता है। ऐसे ही 'दो और दो चार होते हैं' यह भी दार्शनिक ज्ञान का प्रतिमान नहीं है। दार्शनिक विचार के लिए प्रत्यक्ष जगत् की स्वतन्त्र सत्ता ही असिद्ध मानी जा सकती है। ऐसे ही गणितीय ज्ञान के स्वरूप का विवरण दार्शनिक विचार का विषय बनता है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि दर्शन सामान्यतम और अनिवार्यतया प्रदत्त विषयों और संशयों से जूझता है और उनका स्पष्टीकरण या समाधान करना चाहता है, उसकी यह विचारात्मक साधना विचारमात्र से अन्तिम रूप में कृतार्थ नहीं होती। उसे एक ओर ज्ञान-समृद्धि की अपेक्षा रहती है और दूसरी ओर मूलभूत मूल्य-दृष्टियों की। ज्ञान और मूल्य दोनों ही दर्शन में विचारणीय होते हैं, किन्तु ज्ञान की स्थिति और मूल्य-दृष्टि के भेद से यह विचार अवधारणाओं का परिष्कार करते हुए भी दार्शनिक विचार अपने पूर्वगामी और अपने से परे अतर्क्य बोध की ओर संकेत करता है। अपरोक्ष ज्ञान से उत्पन्न होकर विमर्श बृहत्तर अपरोक्षता का मार्ग दिखलाता है।

ए- , अलकापुरी
डाकघर-भेल,
भोपाल-462024

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सत् का स्वरूप : सापेक्षता का प्रश्न

यशदेव शल्य

ऐसे तो अस्तित्व मात्र में ही व्यष्टिता और सामान्यता या जातिता ये दो विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं, किन्तु जैव अस्तित्व में व्यष्टित्व भौतिक अस्तित्व की अपेक्षा अधिक स्फुट और सुप्रतिष्ठ मिलता है। भौतिक अस्तित्व में व्यष्टित्व मुख्यतः दैशिक व्यावर्तन के रूप में ही रहता है : जैसे, दो समानगुण परमाणु दैशिक रूप से ही परस्पर भिन्न होते हैं : इसी प्रकार दो प्रस्तर खण्ड, जल-धाराएँ आदि केवल दैशिक व्यावर्तन के आधार पर ही परस्पर भिन्न कहे जा सकते हैं। किन्तु जैव अस्तित्व जैव जातियों में और जैव जातियाँ व्यष्टि-अवयवियों में विभक्त मिलती हैं और यह जातीयता और व्यष्टिता आत्म-प्रतिष्ठ होती है। जैव व्यष्टिता की *वास्तवता* जीव के दैहिक गठन और क्रिया की स्वतंत्रता में प्रत्यक्ष गोचर होती है और जाति की *वास्तवता* उसकी जननात्मक एकता में प्रत्यक्ष गोचर होती है। इन लक्षणों से इनमें चैत्त वैशिष्ट्य भी निगमित किया जा सकता है – प्रत्येक जीव क्रिया का एक विशिष्ट कर्त्ता होता है, जो व्यष्टि-देह के अवयवों को अधिष्ठाता रूप में अध्युषित कर संयुक्त रूप से नियुक्त करता है, और जातियों के सम्बन्ध में यह अनुमान युक्त प्रतीत होता है कि प्रत्येक जाति एक विशिष्ट अनादि संस्कार-प्रवाह, या कहें जगद्रचनात्मक अतिक्रामी कोटियों में विशिष्ट होती है। कांट ने मनुष्य की इन जगद्रचनात्मक अतिक्रामी कोटियों का विवरण दिया है। मनुष्य में यह जातीय वैशिष्ट्य आगे समाजों-संस्कृतियों के रूप में एक शुद्ध चैत्त स्तरीय अस्तित्व भी लेता है, जिसे समाज-चित्त या सामाजिक आलय विज्ञान कह सकते हैं। यों एक जैवस्तरीय समष्टि-चित्त मधुमक्खी, चींटी आदि कुछ कृमियों में भी मिलता है–उनकी भिन्न-भिन्न बस्तियाँ होती हैं, किन्तु उनमें चित्त का स्तर पूर्णतः संस्कार-रूप, जैव प्रवृत्ति रूप ही रहता है। उनकी विभिन्न बस्तियों में कुछ भेद, कुछ वैशिष्ट्य भी रहता ही होगा, किन्तु वह वैशिष्ट्य जैवचित्त-स्तरीय ही हो सकता है। किन्तु मानव-समाज एक जैवोत्तर चैत्त विग्रह में प्रतिष्ठित होता है, जिसे हम उसकी संस्कृति कहते हैं। मनुष्य के विभिन्न समाज हैं–जिसका अर्थ है कि उसके विभिन्न सामष्टिक जैवोत्तर चैत्त विग्रह या संस्कृतियाँ हैं। ये चैत्त विग्रह भी एक प्रकार से अतिक्रामी अवधारण-कोटि-रूप कहे जा सकते हैं। ये अवधारण-कोटि-रूप समाजों के जीवन और जगत् विषयक, व्यवहार और परमार्थ विषयक दृष्टि-साकल्य : विश्व-दृष्टियाँ : कहे जा सकते हैं। यह समष्टि-दृष्टि व्यष्टि-दृष्टियों का पूर्णतः निर्धारण करती हो, ऐसी बात नहीं है – व्यक्तियों के लिए इसमें स्वातन्त्र्य का अवकाश भी रहता है, व्यक्ति अपने सांस्कृतिक पूर्वग्रहों पर प्रश्न उठाते रहते हैं जो सांस्कृतिक स्तर पर संस्कृति-स्तरीय ऊहापोह का रूप लेते हैं। मानव-स्तरीय सामष्टिक चैत्त-विग्रह और जैवस्तरीय सामष्टिक चैत्त-विग्रह में यह एक आधारभूत अन्तर है। इस अन्तर का मूल मानव-चेतना के आत्मचेतन होने में है जिससे व्यष्टित्व भी आत्मोल्लेखी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होकर आत्म-प्रतिष्ठापक हो पाता है। इसे अतिक्रामी अहंकार का ज्ञान-विषय होना भी कह सकते हैं, जो विषय अस्मत् प्रत्यय का रूप लेता है। डेकार्ट जिसे चेतना-क्रिया मात्र में कर्त्ता की आत्म-प्रतिष्ठा कहते हैं : सन्देह करता हूँ, इसलिए हूँ : वह चेतना की इसी *आत्मचेतनता के कारण* होता है। यह आत्म-प्रतिष्ठा *अनात्मचेतन चेतना* अपने सन्देह में नहीं पाती। इसी कारण जैवस्तरीय सामष्टिक विग्रह : चींटी-बस्ती या मधुमक्खी-छत्ते : में वैयष्टिक चित्त के लिए अवकाश नहीं होता।

अब, ये सब सांस्कृतिक चैत्त विग्रह वस्तु-रूप, सदसद्-रूप, भावन-रूप और अवधारणात्मक विमर्श के विभिन्न रूपों के अतिक्रामी निर्धारक कहे जा सकते हैं। जिसका अर्थ है कि चेतना सत्य का, या कहें वस्तु-सत् का, कभी अव्यवहित साक्षात्कार नहीं करती, बल्कि किसी सांस्कृतिक चैत्त विग्रह की उपाधि से उपहित रह कर उसके भीतर से ही सत्य या यथार्थ का प्रत्यक्ष करती है। वैदिक ऋषि, बुद्ध, महावीर, वाल्मीकि, गोरखनाथ, रमण महर्षि और गान्धी भारत में ही हो सकते थे और डेकार्ट, लाइब्नीज़, काँट, शैली, कीट्स, न्यूटन, आईंस्टीन, रूसो और मार्क्स पश्चिम में ही हो सकते थे। इसी प्रकार बुद्ध बुद्धत्व से, गाँधी गाँधीत्व से, डेकार्ट डेकार्टत्व से और न्यूटन न्यूटनत्व से उपहित रह कर ही यथार्थ का प्रत्यक्ष कर सकते थे। अब, यदि यह सही है तो अव्यवहित या अनावृत सत्य का यथार्थ मनुष्य के लिए अगम्य हो जाता है। मनुष्य इसके लिए अनिवार्यतः अभिशप्त है कि वह सत्य को वैयक्तिक और सांस्कृतिक किसी विकल्प-लोक के आवरण के बीच से ही देखे। यों यही बात जीव मात्र के लिए भी सही होगी।

यदि यह निष्कर्ष स्वीकार किया जाय तो मनुष्य को उपलब्ध सत् केवल एक संस्कृति-सापेक्ष अवधारणा का आक्षेप ही नहीं रह जाता बल्कि व्यक्तिनिष्ठ धारणा-सापेक्ष भी हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति भी अपनी एक विशिष्ट दृष्टि रखता है जो उसके संस्कार, स्वभाव और मूल्यों से प्रभावित होती है। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणि-जाति के ग्रहण और क्रिया-संस्थान का भी एक जाति-विशिष्ट अतिक्रामी कोटि-रूप और उसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यष्टि के ग्रहण का भी विशिष्ट रूप होना चाहिए। सो, अन्ततः प्रत्येक व्यष्टि एक व्यष्टिनिष्ठ आवरण में रहता है, और उसी के अन्तर्गत कल्पित लोक को सत्य मान कर प्रवृत्त होता है। इधर हुस्सर्ल की जीवन-लोक (लाइफ-वर्ल्ड) की और उत्तर-आधुनिकतावादी देरिदा के 'टेक्स्ट' की अवधारणा से कुछ ऐसा ही आपादन बनता है।

यह स्पष्टतः सही है, किन्तु केवल ऊपरी दृष्टि से, किन्तु इसके मूल में एक गहरी भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति इस बात में भी देखी जा सकती है कि स्वयं इस मत के प्रतिपादन में भी सत्य का दावा है और इस प्रकार यह मत यदि भ्रान्त भी है तो यह भ्रान्ति सत्य को देखने में असफलता के कारण ही है, अन्यथा इस या किसी भी प्रतिपादन के प्रयत्न का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, प्रतिपादन के सब प्रयत्न अनवस्था प्रसंग-दोष-ग्रस्त हो जाते हैं। किन्तु तब, यह भ्रान्ति होती क्यों है, इसका मूल क्या है?

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इस भ्रान्ति का मूल ज्ञान का निदर्श ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषयों को बनाने में है। ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष बाह्य वस्तुविषयक होता है और उसमें भ्रान्ति का स्रोत अधिकांशतः मनोगत कोई विकार या इन्द्रियपरक कोई विकार या बाधा होती है। रस्सी में साँप या सीपी में चाँदी देखना भारतीय दार्शनिकों के प्रिय उदाहरण रहे हैं। ये दोनों भ्रान्तियाँ चक्षु द्वारा दृष्ट विषय पर किसी मनोविकार के आरोप से होती हैं। किन्तु इन्हें भ्रान्तियाँ तभी कहा जा सकता है यदि पहले देखा गया साँप वास्तव में रस्सी हो और पीछे पुनर्दर्शन द्वारा यह प्रमाणित हो जाय कि वह वास्तव में रस्सी थी और यह कि बाद का प्रत्यक्ष वास्तव में ही बाह्यार्थ के अनुरूप है। अब, जगत् से और जगद्गत वस्तुओं से सम्बन्ध विषयक यह एक सहज दृष्टि है। किन्तु इस भ्रान्ति और निर्भ्रान्त प्रत्यक्ष पर विचार किस प्रकार इस प्रत्यक्ष द्वारा किसी स्वतंत्र बाह्यार्थ की उपलब्धि की धारणा को निराधार सिद्ध कर देता है, यह दर्शन के सब विद्यार्थी जानते हैं। ज्ञान विषयक इसी निदर्श पर उन दूसरे प्रसंगों को भी देखा गया है जिनमें सत्य का प्रसंग रहता है। जैसे सदसद् विषयक विवेक में यह पूर्वगृहीत रहता है कि सद् और असद् हमारे विचार आदि से स्वतन्त्र सत् हैं। किन्तु यदि ये स्वतन्त्र नहीं हैं तो फिर यह हमारी सुविधा की या धारणा की बात रह जाती है कि सद् क्या है और असद् क्या है! इसी प्रकार जाति या सामान्य के ज्ञान और अस्तित्व-अनस्तित्व की बात है। सामान्यों के 'अस्तित्व' का निषेध करने वालों ने इसी आधार पर उनका निषेध किया है कि ये 'इस लाल या पीले' के समान तथा 'इस गाय या घोड़े' के समान सत् नहीं हैं; अर्थात् ये विशेष तो सत् हैं किन्तु 'लालिमा' या 'गोत्व' सत् नहीं हैं—क्योंकि ये इस लाल और इस गाय के समान किसी देश में नहीं हैं, ये दृश्य या स्पृश्य नहीं हैं। 'नाम मात्रवाद', 'विकल्प वाद', 'अनभिलाप्य तत्त्व वाद' आदि यथार्थ विषयक इसी निदर्श पर प्रतिष्ठित मत हैं। यही निदर्श सापेक्षतावाद के मूल में भी है। सापेक्षतावाद दो प्रकार का है – एक यह कि बाह्य सद्वस्तु हमें गम्य तो होती है किन्तु पूर्णतः नहीं, पक्षतः ही गम्य होती है, या गम्य होती ही नहीं, केवल हमारे कल्पित रूप ही गम्य होते हैं। दूसरा यह कि बाहर कोई सद्वस्तु नहीं है, हम केवल काल्पनिक लोकों में ही रहते हैं। वस्तु-अवस्तु, नीति-अनीति या धर्माधर्म, सुन्दर-असुन्दर और इसी प्रकार के दूसरे याथार्थ्य-निर्णय या मूल्य-निर्णय, इन सब का कोई यथार्थ आधार नहीं है, यथार्थ अर्थात् उस प्रकार का अर्थ जैसा रज्जु-प्रत्यक्ष का रज्जु और गाय-प्रत्यक्ष का गाय होती है। इस निदर्श का कुशलतम दार्शनिक प्रतिपादन बौद्धों के अपोहवाद और निर्विकल्पक-सविकल्पक की अवधारणाओं में मिलता है। एक प्रकार से जगत् की मायिकता, अविद्यामूलकता, अपारमार्थिकता, व्यावहारिकता आदि में भी यही धारणा निहित है, इस भेद के साथ कि इसमें एक ऐसे यथार्थ-लोक की स्वीकृति है जो चेतना के इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि स्तरों से अतीत स्तर के लिए ही गम्य है। किन्तु उस स्तर पर भी हम देखते हैं कि मुंडे-मुंडे मति की भिन्नता है। ऐसे में कोई ऋषि या मुनि ऐसा नहीं हो सकता जिसका मत प्रमाण कहा जा सके, उस स्तर पर भी अंगीरस और उद्दालक, वसिष्ठ और विश्वामित्र, बुद्ध और महावीर में व्यक्ति-भेद है। ऐसी स्थिति में क्या कहा जाय? क्या

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ऐसी स्थिति में यह कहना युक्तिसंगत होगा कि कोई एक निरपेक्ष धर्म-तत्त्व है, जो गुहा में निहित है और महाजनों को विदित है? याकि वह उनके लिए भी अगम्य है, किन्तु है? याकि ऐसा कोई धर्म नहीं है, न कोई गुहा है और परिणामत: न कोई महाजन है? जिसे जिधर भी घी-शक्कर मिले उसे उधर ही चले जाना चाहिए? किन्तु तब यह भी कैसे कहा जा सकता है कि यह मत : सापेक्षतावाद : सही है, निरपेक्षतावाद सही नहीं है, क्योंकि सही तो कुछ है ही नहीं; यह भी नहीं कि कुछ सही नहीं है? अनवस्था-प्रसंग?

किन्तु ख़ैर, इस तार्किकता को जाने दें, क्योंकि यह भी केवल यही प्रदर्शित करती है कि अन्तत: तर्क भी हमें अन्धे गलियारे में ही धकेलता है, यह भी कोई अपने आप में सुप्रतिष्ठ नहीं है। किन्तु शायद ऐसी बात नहीं है। यहाँ हम इस सापेक्षतावाद-निरपेक्षतावाद के विवाद को ही देखें। इन दोनों के समर्थक सत्य को पाने का ही प्रयत्न करते हैं और अपने को क्रमश: उसकी ओर अग्रसर देखते हैं। दूसरी ओर वे हैं जिन्हें यह प्रश्न ही प्रस्तुत नहीं होता। यदि इस प्रकार देखें तो क्या ऐसा नहीं दिखता कि सापेक्षतावाद-निरपेक्षतावाद के विवाद में उलझे ये लोग सत्य से दूर होने पर भी उनकी अपेक्षा सत्य के कहीं अधिक निकट हैं जिनके लिए यह विवाद प्रस्तुत ही नहीं होता? जिनके लिए यह विवाद उनकी सोच और बोध से बहुत परे है? किन्तु प्रश्न हो सकता है कि ऐसा किस आधार पर कहा जा सकता है? ऐसा क्यों नहीं कहा जा सकता कि इन दो विवादियों में से कम से कम एक सत्य से उनकी अपेक्षा अधिक दूर है जिनके लिए यह प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता? क्योंकि इनमें से एक का पक्ष धनात्मक होने पर दूसरे का ऋणात्मक होगा और ऐसा भी हो सकता है कि दोनों का ही पक्ष ऋणात्मक हो! किन्तु हम देखते हैं कि ऐसे दोनों विपरीत मतावलम्बियों का लोग, उन्हें समान रूप से विचारक मानते हुए, आदर करते हैं। ऐसा केवल वैचारिक मतभेद को लेकर ही नहीं होता, पर्येषणाओं, या कहें मूल्यों में प्रकार-भेद होने पर भी होता है, जो प्रकार प्रकटत: विरुद्ध जैसे होते हैं – जैसे विज्ञान, दर्शन और संगीत, एकान्त में योग-साधना और सामाजिक कर्म! कहा जा सकता है कि यह बात सापेक्षतावाद के समर्थन में ही जाती है, क्योंकि ये वैभिन्न्य दृष्टियों को सापेक्ष मानने पर ही समान रूप से आदरणीय हो सकते हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। सापेक्षतावाद को स्वीकार करने पर तो ये समान रूप से अनादर के योग्य ही होंगे—असत्य को सत्य मान कर प्रवृत्त होने के कारण! किन्तु लोग इनका समान रूप से आदर इन्हें समान रूप से सत्यनिष्ठ मान कर करते हैं – माँ काली के प्रेम में उन्मत्त रामकृष्ण परमहंस का भी, बरसों योग-समाधि में लीन श्री अरविन्द का भी, नैरात्म्य और शून्यता के सन्धानी बुद्ध का भी और सामाजिक कर्म में निरत महात्मा गाँधी का भी।

इसके लिए कहा जा सकता है कि इनका आदर सत्यासत्य के प्रसंग से नहीं होता, चित्त की साधना के प्रसंग से होता है; दूसरे शब्दों में, ज्ञान के प्रसंग से नहीं, आचरण या भाव के प्रसंग से होता है। किन्तु आरम्भ में हमने ज्ञानविषयक मतभेदों के उदाहरण ही दिये थे। दूसरे, आचरण और भाव भी अन्तत: मूल्य-दृष्टियों में प्रतिष्ठित होते हैं और मूल्य-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृष्टियाँ सत्य विषयक दृष्टियों में! बुद्ध की सम्बोधि एकसाथ तत्त्व-ज्ञान और चर्यामूलक थी, निर्वाण एक साथ वास्तव परमार्थ और परम पुरुषार्थ है। तब फिर बुद्ध, महावीर, कबीर और चार्वाक बृहस्पति, या नागार्जुन, कणाद, ईश्वरकृष्ण और शंकर तथा प्लेटो, एक्विनास और ह्यूम और शंकर, न्यूटन या आईंस्टीन इनमें दृष्टि-भेद का अर्थ क्या है? क्या यह अर्थ है कि इनमें से कोई भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि धर्म का तत्त्व या परमार्थ : स्वतन्त्र वस्तुत सत् : इन सबके लिए समान रूप से अगम्य है? और परमार्थ इनके लिए इसलिए अगम्य है क्योंकि इनकी दृष्टियाँ अनिवार्य रूप से विकल्पमूलक हैं? किन्तु यह निष्कर्ष स्वयं इन विचारकों के आचरण से संगत दिखायी नहीं देता, जन-साधारण के सहज बोध से तो यह विसंगत है ही। तब फिर इसका क्या समाधान है?

इसका समाधान यह है कि सत्य चेतना द्वारा किसी बाह्य सत् के दर्शन में नहीं है, जैसाकि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सिद्धान्त में या सापेक्षतावाद में गृहीत है। सत्य चेतना का ही अन्तर्गत धर्म है। चेतना में ही भ्रान्ति का, आवरण का, स्रोत भी है और निर्भ्रान्त दृष्टि या अव्यवहित साक्षात्कार का स्रोत भी। यों निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और सविकल्पक अध्यवसाय के सिद्धान्त में भी अन्ततः यही स्वीकृत है कि चेतना ही सत्य का दर्शन करती है, और वही भ्रान्त, या अपने भीतर से उपजे मलों या आवरणों से सत्य देखने में असफल, रहती है। किन्तु इस दृष्टि के अनुसार सत्य की अवस्थिति बाहर है और चेतना का केवल ऐन्द्रिय व्यापार, या कोई दूसरा, बुद्धि को : विचार को : निश्चेष्ट कर प्रवृत्त व्यापार, सत् का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। यह दृष्टि बुद्धि को व्यवधान के रूप में देखती है। किन्तु यह युक्त दृष्टि नहीं है, यद्यपि दर्शन और अध्यात्म-साधना में इसकी बहुत व्यापक स्वीकृति है। सत् की अवस्थिति बाहर और ज्ञान का साधन इन्द्रियों को देखने का कारण जीव के सहज प्राकृतिक जीवन का स्वरूप है। जीव बाह्य जगत् के परिवेश में जन्म लेता है और उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ इसके साथ व्यवहार के समायोजन में निर्मित होती हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ चेतना के प्रवर्तन का ही एक आयाम हैं। चेतना के लिए बाह्य जगत् का अस्तित्व इन्हीं के द्वारा होता है। ऐसा भी कह सकते हैं कि इन्द्रियाँ चेतना की जगद्भाव से प्रवर्तन की उपकरण या चेतना की जगत्प्रवृत्ति-रूप हैं, जगत् की बाह्य उपस्थिति इस प्रवृत्ति के क्रियान्वयन और चरितार्थन के लिए चेतना द्वारा ही एक आयोजन है। प्रत्येक जीव-जाति की इन्द्रियों और अन्तःकरण की जातीय विशिष्टता और इस विशिष्टता के अनुसार उसके जगत् की विशिष्टता इस बात का प्रमाण है कि जगत् जीव की वासनाओं की अपेक्षा से एक आयोजन है। एकेन्द्रिय जीव भी हैं और दो-तीन-चार-पाँच इन्द्रियों के जीव भी हैं। इनकी इन इन्द्रियों के ग्रहण के और इस प्रकार इनके ग्राह्य जगत् के रूप भिन्न होने अनिवार्य हैं। जीव की अनादि वासनाओं और संस्कारों के रूप ही इन इन्द्रियों और अन्तःकरण को रूप देते हैं और ये इन्द्रियाँ इनके विषयभूत जगत् को रूप देती हैं। सींगों वाले जीव और बिना सींगों के जीव का जगत् एक ही प्रकार का नहीं हो सकता, आँखों वाले और बिना आँखों के जीवों के जगतों का रूप एक होने का तो फिर प्रश्न ही

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

कहाँ रह जाता है! ऐसा कहने के लिए कोई युक्ति नहीं है कि जगत् स्वतन्त्र (स्वलक्षण) रूप से विद्यमान है और ये जीव इसे भिन्न-भिन्न प्रकार से देखते हैं, किन्तु न ऐसा कहने के लिए ही कोई युक्ति है कि इनके जगत् विभिन्न काल्पनिक आयोजन हैं। इस दूसरी प्रतिपत्ति में यह पूर्वगृहीत है कि चेतना की यह जगत्- प्रवृत्ति किसी ज्ञान-लेश से रहित है। *सम्भवतः किसी पूर्वग्रह से मुक्त दृष्टि यह होगी कि चेतना के सम्पूर्ण व्यापार को उसकी विभिन्न अर्थ-भुवनों के रूप में अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाय जिनमें एक अर्थ-भुवन यह बाह्य इन्द्रिय-विषय जगत् है। (इस प्रकार इन्द्रिय और अन्तःकरण भी चेतना के विकल्प ही हैं।* ऐसा समझा जाना चाहिए) हेनरी बर्गसाँ जिस सहज बोध (सहज प्रवृत्ति – इंस्टिंक्ट) को और बौद्ध जिस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को परमार्थ ज्ञान के रूप में देखते हैं, वह भी चेतना की अर्थ-भुवनों के रूप में इसी प्रकार की एक अभिव्यक्ति है। इसी चेतना की अभिव्यक्ति के दूसरे रूप और आयाम दर्शन, काव्य, कलाएँ, विज्ञान और योग-समाधि आदि हैं। अभिव्यक्ति के इन विभिन्न स्तरों या आयामों को स्थूल रूप में दो वर्गों में बाँटा जा सकता है – एक, चेतना का विषय-तादात्म्य का स्तर और दूसरा प्रत्यङ्मुखता या आत्मचेतना का स्तर। चेतना के इस दूसरे स्तर को उन्नततर कहा जा सकता है। चेतना के स्तरों में उच्चावचता का मान उसकी ज्ञान और याथार्थ्य में उच्चावचता को कहा जा सकता है। अब, चेतना की इन प्रत्यङ्मुख अभिव्यक्तियों को ज्ञान या याथार्थ्य-दर्शन में उच्चतर अभिव्यक्तियाँ कहना विकल्प को निर्विकल्पक से ज्ञान या याथार्थ्य-दर्शन में उच्चतर कहना है। इसका क्या औचित्य है? इसे भौतिक विज्ञान के उदाहरण से समझना सहायक होगा : भौतिक विज्ञान ज्ञानेन्द्रिय-ग्राह्य बाह्य जगत् के सत्य को, उसके सत्स्वरूप को, जानने का उपक्रम है। किन्तु इस उपकम में उसका ग्राह्य इन्द्रिय-ग्राह्य विषय नहीं होता बल्कि विकल्प-ग्राह्य विषय ही होता है – शुद्ध रूप से विकल्प-ग्राह्य विषय। यह विषय किसी भी प्रकार से इन्द्रिय-विषयक नहीं होता, इसका विषय इन्द्रिय विषय मूलक विकल्पित व्यवहार-व्यवस्था : क्रिया-व्यवस्था : होती है जो इन्द्रिय-विषय के परोक्षतः सम्बद्ध होती है। बर्गसाँ ने अपनी पुस्तक **क्रियेटिव एवोल्यूशन** में दिखाया है कि यह विज्ञान किस प्रकार आनुभविक याथार्थ्य का विद्रूपण करता है। इसका देश उद्गृहीत और खण्डित और काल स्वरूप-भ्रष्ट और देशायित होता है। किन्तु बर्गसाँ की भौतिक विज्ञान की यह आलोचना जैव सहज बोध को यथार्थ की कसौटी मान कर चलती है, जिस सहज बोध के लिए आन्तर-बाह्य का कोई भेद नहीं होता, जिसके लिए इन्द्रियविषय का भौतिक रूप में – मिट्टी, लोहा, पानी के रूप में भी – निर्धारण भी मात्र एक उद्गृहीत कल्पना ही ठहरता है। किन्तु भौतिक का भौतिक – मिट्टी, पानी आदि – के रूप में निर्धारण कितने विशाल और समृद्ध उपादान भण्डार को आविर्भूत करता है, यह हम देख ही सकते हैं, और दूसरी ओर यह भौतिक विज्ञान के विषय रूप में विकल्पित होकर ज्ञान का कितना विराट् और अथाह क्षेत्र उद्घाटित करता है यह भी हम देखते ही हैं। यहाँ इस ज्ञान के स्वरूप को समझने के लिए 'सहज ज्ञान' के एक उदाहरण की उसके समानान्तर वैज्ञानिक ज्ञान से तुलना उपयोगी होगी – बहुत से पशु-पक्षी भूचाल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को उससे बहुत पहले जान लेते हैं जब मनुष्य अपने अत्यन्त संवेदी यंत्रों से जान पाता है। किन्तु द्रष्टव्य है कि यंत्र से मनुष्य *भूचाल* को नहीं जानता बल्कि केवल *यंत्र की गति* को जानता है, जिससे वह भूचाल का अनुमान करता है। भूचाल को वह उसकी एक सीमा से अधिक तीव्रता होने पर ही जान पाता है। किन्तु क्या पशु भूचाल को उस तरह से भी 'जानता' है जिस प्रकार साधारण मनुष्य जानता है? और क्या ये दोनों उस तरह भूचाल को 'जानते' हैं जिस तरह वैज्ञानिक अपने यंत्रों से जानता है? स्पष्टत: ये तीनों ज्ञान भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। किन्तु क्या ये एक ही 'वस्तु' के ज्ञान हैं – भिन्न-भिन्न प्रकार के? इसका उत्तर भी एक नहीं हो सकता। सहज बोध की दृष्टि से ये एक ही वस्तु के नहीं हैं, क्योंकि उसके लिए उस बोध से पृथक् कोई 'वस्तु' है ही नहीं, यह 'वस्तु' केवल अध्यवसायात्मक आत्मचेतन चेतना के लिए है जो विषय को संवेद या उद्दीपन से पृथक् देख सकती है। बुद्ध इस 'वस्तु' को ही विकल्पित, वास्तव में क्षण-सन्तान और निस्स्वभाव कहते हैं, और एक दूसरी तरह से बर्गसाँ भी—जैव सहज बोध की साख पर—यही कहते हैं, किन्तु यह अध्यवसायात्मक चेतना इसे एक ही 'ज्ञान' की त्रि-प्रकारता के रूप में भी देख सकती है और इनकी 'विषय-वस्तु' की स्वतन्त्र एक-प्रकारता को भी देख सकती है। यहाँ द्रष्टव्य है कि यहाँ ज्ञान के चार स्तर हो गए हैं—अनात्मचेतन जैव चेतना का, आत्मचेतन सहज चेतना का, आत्मचेतन वैज्ञानिक चेतना का, और चौथा, उस चेतना का जो इन तीनों का निरीक्षण और विवेचन कर सकती है। इनमें प्रथम को विषय-तादात्म्य का स्तर और पिछले तीन को प्रत्यङ्मुखता के तीन स्तर कह सकते हैं। अब, इन ज्ञानों को सापेक्ष कहने में दो पूर्वग्रह हो सकते हैं—एक तो यह कि ये चारों ज्ञान एक ही वस्तु के भिन्न प्रकारक ग्रहण हैं, जो वस्तु-विषयक होने पर भी वस्तु पर कल्पनारोप हैं—चार रंगों के चश्मों से देखी गई 'वस्तु के रंग' के समान, और दूसरा यह कि कोई वस्तु है ही नहीं, केवल चार प्रकार की वस्तु-कल्पनाएँ मात्र हैं। किन्तु यह युक्त नहीं है। इसके बजाय सम्भवत: यह कहना अधिक युक्त होगा कि चेतना सब स्तरों पर जानने का प्रयत्न करती है : प्रथम स्तर का प्रयत्न चेतना का द्वितीय स्तर पर उन्नयन करता है, द्वितीय स्तर का प्रयत्न तृतीय स्तर पर और तृतीय स्तर का चतुर्थ स्तर पर। किन्तु यह 'जानना' और कुछ नहीं चेतना का अपने को अपना प्रस्तुत होना ही है—जैव स्तर पर वासनाओं, क्षुधाओं या आवेगों के अर्थों से उपरंजित इन्द्रियार्थों के रूप में और जैवोत्तर स्तर पर ज्ञातृ, भोक्तृ और पर्येष्टृ (मूल्यान्वेषक) आदि के अपने ही अर्थों के रूप में, या इनसे उपरंजित इन्द्रियार्थों के रूप में। उदाहरणत: आत्मचेतन चेतना को प्रस्तुत निकटतम, स्पष्टतम और ठोसतम अर्थ आत्म : अस्मिता: है जो स्वयं ज्ञातृ, भोक्तृ या पर्येष्टृ की आत्म-प्रस्तुति है। इस प्रस्तुति में यह आत्मा ज्ञेय, भोग्य और पर्येष्य बाह्यार्थों के साथ प्रस्तुत होता है, जो अर्थ उसके लिए दृश्य, विवेच्य, अवगाह्य या उपयोज्य बनते हैं। यह सब 'चेतना के आत्म चेतन होने' से तर्कत: आपादित होता है। इस चेतना के अवगमन के प्रयत्न *वास्तव* अर्थों के ही अवगमन के प्रयत्न होते हैं और सापेक्ष होने पर भी वस्तु-सम्बद्ध होते हैं। ये अर्थ काल्पनिक भी हो सकते हैं—रज्जु में सर्प के समान, और वस्तु-तंत्र :

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यथा-अर्थ : भी हो सकते हैं–रज्जु में रज्जु के समान। ये वस्तुएँ : स्वयं आत्मा के सहित : स्वरूपतः ही स्वतन्त्र और अनवगाह्य और विस्तार में अपार होती हैं। इसलिए जानने के सब प्रयत्न यथार्थमूलक होने पर भी उस अर्थ के अनेक गुण-धर्मों में से उन कुछ गुण-धर्मों के ही ग्राहक हो सकते हैं जो देखने वाले के तत्कालीन प्रयोजन, या अवगाहन की योग्यता, या दृष्टि के कोण की सापेक्षता में प्रस्तुत होते हैं। किन्तु ये प्रस्तुत गुण-धर्म 'सम्पूर्ण वस्तु' के अप्रस्तुत शेष पक्ष की पृष्ठभूमि के साथ ही प्रस्तुत होते हैं, जैसाकि चित्रकार द्वारा वस्तु की कोण विशेष से प्रस्तुति में देखा जा सकता है। इन प्रस्तुतियों का मूल आत्म : अस्मिता-बोध : अनात्मचेतन जीवों में भी रहता है, किन्तु वहां यह अस्फुट अस्मिता-भाव रूपेण अविषय, अनुद्भिन्न, अविश्लिष्ट रूप में रहता है इसलिए उनमें वह अवगम्य और विवेच्य अर्थ का रूप नहीं लेता, वहाँ वह केवल व्यावर्तक और प्रवर्तक विषयिता के रूप में ही रहता है। वहाँ अस्मिता के इस प्रकार अबाह्य और अविषय होने से जीव के अन्य अर्थ भी विषय- रूप : वस्तु-रूप : नहीं हो पाते और परिणामतः गवेष्य नहीं हो पाते, वे प्रवर्तन के अन्तरंग गुण-रूप ही रहते हैं। इसके विपरीत आत्मचेतन चेतना के लिए ये स्वतन्त्र विषयवस्तुएँ होते हैं। अब, आत्मचेतन चेतना में आत्मा का स्वतन्त्र विषय हो पाना और इस प्रकार स्वतन्त्रतः गवेष्य हो पाना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और अर्थपूर्ण है। आत्मा से अधिक निकट, अधिक अनन्यसाधारण, या कहें अन्य के लिए अग्राह्य और कुछ नहीं हो सकता। डेकार्ट ने अपने 'होने' का प्रमाण 'मैं सोचता हूँ' को कहा। किन्तु इसी चेतना के लिए सब विषय : स्वयं इस 'मैं' के सहित : सर्वगम्य, सर्वसामान्य भी होते हैं। 'मैं सोचता हूँ', 'मैं देखता हूँ', 'मैं दर्द में हूँ' आदि बोध निश्चय ही 'मैं' पूर्वक होता है, नहीं तो 'सोचता हूँ' आदि ग्राह्य ही नहीं हो सकता। और इसका यह स्वरूप है कि इसकी यह ग्राह्यता सामान्यात्मक-सर्वसाधारणात्मक होती है। इस प्रतिपत्ति के लिए कि 'मैं सोचता हूँ' या 'मैं हूँ' मेरे सोचने और मेरे होने के मदीयत्व से स्वतन्त्र युक्तियुक्त होना भी आवश्यक होता है–इतना स्वतन्त्र कि इसकी युक्तता के लिए किसी का भी सोचना और होना अनिवार्य अपेक्षा नहीं है। निश्चय ही किसी प्रतिपत्ति का अस्तित्व सोचने की क्रिया के अस्तित्व के आश्रित होता है, किन्तु उसका सत्य सोचंने और प्रतिपत्ति के अस्तित्व के आश्रित नहीं होता। अब यहाँ आपत्ति हो सकती है कि इस तथाकथित सत्य का ग्रहण सोचने की घटना के अस्तित्व और इस अस्तित्व की परिस्थिति और रूप-गुण से स्वतन्त्र नहीं हो सकता और परिणामतः इस सत्य के स्वातन्त्र्य के लिए कोई प्रमाण नहीं हो सकता। किन्तु यह ठीक नहीं है। इस ग्रहण की यह अनिवार्य अपेक्षा है कि इसका ग्राह्य इसके ग्रहण की परिस्थिति और इसके रूप-गुण से स्वतन्त्र हो और परिणामतः इसके ग्रहण से यह अनिवार्य अपेक्षा है कि वह अपने अस्तित्व की परिस्थिति और इसके रूप-गुण से स्वतन्त्र हो। यह बात 'मैं' के लिए और 'मैं हूँ' के लिए उतनी ही सत्य है जितनी 'तारा मण्डल' के लिए, 'तारा मण्डल में सूर्य' के लिए, और 'इस कविता' अथवा 'इस चित्र' के लिए। यहाँ बृहदारण्यक उपनिषद् के 'न हि पुत्रस्य कामाय पुत्रं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय पुत्रं प्रियं भवति' आदि को इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विवेचन से जोड़ा जा सकता है। पुत्र की प्रियता सर्वप्रथम एक जैव चित्त-स्थिति है, जिसमें *जीव होता है* – अविवेच्य, अविश्लेष्य रूप से – हुस्सर्लीय जीवन-लोक (लाईफ वर्ल्ड) में। किन्तु जैव चित्त के आत्म चेतन चित्त-स्थिति में उन्नयन के साथ ही 'पुत्र की प्रियता' एक स्वतन्त्र विषय हो जाती है, जिसके सम्बन्ध में, मैं *बिना इस प्रेम में* हुए भी, कथन और विचार कर सकता हूँ, अथवा इसे विचार-विषय बनाये बिना इसे प्रियता मात्र के एक उदाहरण के रूप में भी देख सकता हूँ, जैसाकि उपनिषद् यहाँ कर रही है। यह अन्ततः प्रेम करने वाले 'मैं' के विवेच्य विषय होने से सम्भव होता है जो उपनिषद् के लिए मनन-निदिध्यासन के अनन्तर अस्तित्व मात्र का परमार्थ और प्रतिष्ठा है, बुद्ध के लिए चैत्त सन्तति पर मिथ्यारोप है और भौतिकवादी के लिए भौतिक वस्तु का एक गुण है। अब, निश्चय ही आत्मा के ये तीन रूप इस विषयक तीन सापेक्ष दृष्टियाँ ही हैं, किन्तु इनके 'दृष्टि' होने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें चेतना अपनी उन वृत्तियों से मुक्त हो जो इसकी 'सत्य-दर्शन की योग्यता' को आवृत करती हैं।

अब, यहाँ कहा जा सकता है कि यह स्पष्टतः सत्य विषयक सापेक्षतावाद का ही समर्थन है, क्योंकि इन दृष्टियों के सत्य का प्रमाण इन से बाहर कोई नहीं हो सकता। इससे चाहे तो हम आत्मा को स्वतन्त्र वस्तु मानकर उसे दृष्टियों के लिए अगम्य मानें, चाहे इन दृष्टियों में ही अशेषतः अपचेय उनका आधार मानें, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु यह ठीक नहीं है। विभिन्न दृष्टियाँ जिन अर्थ-लोकों को लक्षित कर उनके अनुसंधान में प्रवृत्त होती हैं उनमें सत्य ही लक्षित होता है और इसलिए सत्य ही उद्घाटित होता है या अनुद्घाटित रहता है, अथवा आवृत रहता है। इसी से विभिन्न अन्वेषी : वैज्ञानिक, विचारक और दार्शनिक : परस्पर वाद-विवाद करते हैं और बहुत बार अपनी दृष्टि में सुधार करते हैं और प्रतिपादन में परिष्कार करते हैं, और बहुत बार एक दृष्टि का परित्याग कर अन्य का स्वीकार करते हैं। ऐसा तभी हो सकता है यदि दृष्टि-दोष और दृष्टि-सम्यक्ता चेतना में ही निहित हों। इन दृष्टि-दोषों के स्रोत वासना, संस्कार, आवेग और एषणाएँ आदि हैं यह मनुष्य सहज रूप से ही जानता है – यह चाहे वह अधिकांशतः ही जानने में असमर्थ रहता है कि वह कब इनके अधीन है, और उसकी यह ज्ञान-सामर्थ्य ही उसमें सत्य-दर्शन की सामर्थ्य की विद्यमानता की द्योतक होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह सत्य कोई स्थिर, परिनिष्पन्न, आत्यन्तिक और अशेष वस्तु, स्थिति या अवस्था होती है। इसे सम्भवतः *चेतना की अवस्था विशेष में सिद्ध निरावृत स्थिति* कहना ही उपयुक्त होगा। उदाहरणतः हम बुद्ध, कबीर, रामकृष्ण परमहंस और गान्धी सभी को समान रूप से सत्य-दर्शी कह सकते हैं यद्यपि इनमें स्वयं में दृष्टि-परिष्कार की अनन्त अपेक्षा हो सकती है, इसी प्रकार दूसरी ओर आईंस्टीन, पाणिनी, न्यूटन, भर्तृहरि, कालिदास, शेक्सपीयर और नागार्जुन तथा शंकर को भी समान रूप से सत्य-दर्शी कह सकते हैं, उनमें आत्मगत दृष्टि-परिष्कार की अनन्त सम्भावना के साथ। इसी से आईंस्टीन महात्मा गान्धी को लोकोत्तर

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुरुष कह सके थे और महात्मा गान्धी को आईंस्टीन को लोकोत्तर प्रतिभा-सम्पन्न कहने में कोई संकोच नहीं हुआ होता।

यहाँ इस अन्वेष्य सत्य की चेतनान्तर्गत स्वतन्त्रता को तीन उदाहरणों – भौतिक विज्ञान, कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक और दार्शनिक विमर्श – की व्याख्या से समझना उपयोगी होगा।

भौतिक विज्ञान का विषय भूत-तत्त्व है। यह तत्त्व चेतना को इन्द्रिय-विषय के रूप में प्रस्तुत होता है। दिङ्नाग ने इसे ठीक ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय कहा है, किन्तु स्वलक्षण भी कहा है। किन्तु निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय प्रत्यक्ष के लक्षणों से रहित कैसे हो सकता है? इस दोष का निराकरण काँट ने इसे प्रत्यक्ष-लक्षणों से भी रहित कह कर किया है। काँट की स्वलक्षण वस्तु वास्तव में ही स्वलक्षण है। किन्तु तब उसका ज्ञानेन्द्रिय से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वह भौतिक विज्ञान की विषय भी नहीं हो सकती, क्योंकि भौतिक विज्ञान की विषय होने के लिए उसका किसी प्रकार का ज्ञान-विषय होना आवश्यक है। अब, 'भौतिक' जबकि इन्द्रिय-विषय को ही कहा जाता है, इन्द्रिय-विषय वास्तव में 'भौतिक' नहीं होता। यद्यपि इसे निर्विकल्पक संवेद का विषय कहा जाता है, किन्तु वास्तव में यह वास्तव ऐन्द्रिय प्रस्तुति का विषय नहीं होकर उससे उद्गृहीत ही हो सकता है। वास्तव निर्विकल्पक ऐन्द्रिय प्रस्तुति वासना, काम, आवेग आदि से संवलित ही रहती है। विकल्पन से अवर जैव चेतना में ऐसी ही ऐन्द्रिय प्रस्तुति रहती है। इस प्रस्तुति को भौतिक विषय कहना अयुक्त होगा। भौतिक केवल साध्यवसाय ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय ही होता है, जिसे बौद्ध दार्शनिक सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। उनके अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष जबकि वस्तु-प्रदायक होता है, विकल्प अनादि वासनामूलक या सचेष्ट कल्पना (विचार आदि) मूलक अध्यारोप होता है। किन्तु यह दृष्टि वस्तु, चेतना और ज्ञान विषयक नितान्त भ्रान्त दृष्टि है। यदि चेतना के वस्तु-असम्पृक्त व्यापार को विकल्प कहते हैं तो निर्विकल्पक ऐन्द्रिय व्यापार को भी विकल्प ही कहना होगा, क्योंकि इन्द्रिय भी चेतना का ही व्यापार (वृत्ति) है। यह व्यापार स्वतन्त्र वस्तु का साक्षात्कारी होता है, यह कहने के लिए कोई युक्ति नहीं है। क्योंकि, जैसाकि हमने पीछे देखा, प्रथम तो यह व्यापार ऐकान्तिक रूप से कहीं उपलब्ध ही नहीं होता, और दूसरे, यदि यह इस प्रकार उपलब्ध हो भी तो भी यह भौतिक वस्तु-सम्बद्ध नहीं हो सकता; यह केवल वर्ण, गन्ध आदि गुणों को ही प्रस्तुत कर सकता है – कहना चाहिए, इन गुणों में पर्यवसित हो सकता है। और ये गुण चेतना की इन्द्रिय वृत्ति से जन्य होते हैं। बौद्धों के विपरीत काँट ने इस निर्विकल्पक्क प्रत्यक्ष को किसी प्रकार वस्तु-सम्बद्ध देखते हुए भी इसे *वस्तु का प्रत्यक्ष* नहीं कहा है। उसकी थिंग इन इट्सेल्फ : स्वतन्त्र वस्तुः देश-काल और संवेदमूलक गुणों से अतीत है। अब, कहा जा सकता है कि निर्विकल्पक पाशव-चेतना के विषय इन्द्रियमूलक तथा अनादिवासना-निर्दिष्ट सहज प्रवृत्ति और आवेगमूलक अर्थ होते हैं जिनका कोई ज्ञानात्मक आयतन नहीं होता–जो प्रवृत्तिपर्यन्त ही होते हैं। किन्तु विकल्पात्मक चेतना के विषयों का ज्ञानात्मक होना और ज्ञानात्मकता के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आयतन का विस्तार और गहराई में अपार होना उनका स्वरूपलक्षण ही होता है। सत् का स्वरूप या सत्य इसी चेतना के लिए अन्वेष्य बनता है। यह लौह-खण्ड, यह मेज़, यह भवन, यह कविता मेरे अध्यवसाय-क्षम होने के कारण पहले मेरे लिए बाह्य देश में मेरे से स्वतन्त्र अस्तित्व-लाभ करते हैं और यह पृथक् अस्तित्व इन अर्थों का शरीर बनता है, जिन : अर्थों : से यह विकल्पात्मक चेतना इन्हें : शरीरों को : अनुप्राणित करती है। लौह-खण्ड एक भौतिकविज्ञान-विषय धातु. अथवा लोहार-कर्म-विषय उपादान होता है और लौह-उपकरण या मेज़ आदि स्वयं विकल्पात्मक अर्थों की अभिव्यक्ति के क्रम में ही आविर्भूत उनके इन्द्रियगम्य शरीर होते हैं—अपनी दृश्य सत्ता से अदृश्य सत्ता तक विस्तृत। इनमें लौह-खण्ड का सत्य भौतिक विज्ञान के रूप में अन्वेष्य बनता है तथा मेज़, भवन और कविता के सत्य क्रमशः बढ़ई-शिल्प, वास्तु-शास्त्र और काव्य-शास्त्र या काव्य-कला के रूप में अन्वेष्य बनते हैं।

वैज्ञानिक, और इसी प्रकार दूसरे अर्थान्वेषी, अपने ज्ञान के इस स्वरूप के सम्बन्ध में जानते हैं। वैज्ञानिक के ज्ञान का स्वरूप ऐसा है, यह इसी से स्पष्ट है कि उसकी 'वस्तुएँ' शुद्ध गणितीय सम्बन्धों के वाचक पदों द्वारा अभिधेय होती हैं जो इन्द्रियगम्य गुणों के वाचक पदों की भनक से भी कोसों दूर होते हैं। किन्तु यह जानकर वह इसमें कोई विरोधाभास नहीं देखता। विरोधाभास इसमें कोई है भी नहीं, क्योंकि कोई भी अन्वेष्य सत्य चेतना के ऐन्द्रिक स्तर को गम्य नहीं होता, यह सत्य केवल चेतना के प्रत्यङ्मुख आत्मावगाहन में ही गम्य होता है। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि वैज्ञानिक के *अन्वेषण के सत्य* का प्रमाण ऐन्द्रिय विषय ही बनते हैं, गाणितिक पद-वाच्य 'वस्तुएँ' नहीं। पाश्चात्य तार्किक प्रत्यक्षवादियों (लॉजीकल पॉज़िटिविस्ट्स) ने अपना भाषायी अर्थों विषयक सिद्धान्त इसी प्रमाणीकरण सिद्धान्त की पीठ पर खड़ा किया था। किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि जैसाकि हमने पीछे देखा, हमारे साधारण ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के विषय भी बौद्धिक विकल्पों में अन्तर्भूत होकर ही अन्वेष्य सत्य का रूप ले पाते हैं, विज्ञान के विषय तो वैसे ही अत्यन्त जटिल विकल्प- व्यवस्था के माध्यम से स्वरूप-लाभ करते हैं। इस दृष्टि से वैज्ञानिक विषय कला-कृति से उपमेय देखे जा सकते हैं—कलाकार की कृति अस्तित्व में आने के बाद स्वयं कलाकार के लिए भी निरीक्ष्य, विवेच्य और परिष्कार्य हो जाती है और ऐसी ही वह उन सब के लिए भी होती है जो उसे कलाकृति के रूप में देख सकते हैं। विज्ञानगम्य यह भूत-तत्त्व भी ऐसा ही होता है—विज्ञान की कृति-रूप, केवल विज्ञान में ज्ञान का स्वरूप भिन्न होता है—जैसे मूर्त्तिकार के पत्थर की मूर्त्ति के निर्माण में पत्थर की उपयुक्तता विषयक ज्ञान में और मूर्त्ति-रचना तथा उस रचना द्वारा लक्षित आशय के ज्ञान में स्वरूप-भेद होता है। किन्तु ये ज्ञान निरपेक्ष वस्तु-विषयक ही होते हैं – चेतना में उन्मीलित अर्थों विषयक। निश्चय ही ये अर्थ : वस्तुएँ : कभी पूर्णतः गम्य नहीं होते – चेतना में उन्मीलित कोई भी अर्थ, आत्मा के सहित, कभी अपनी पूर्णता में अवगम्य नहीं होता, किन्तु इन विषयक हमारा ज्ञान न इस अर्थ में सापेक्ष होता है कि यह विषयिनिष्ठ कल्पना होता है और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

न इस अर्थ में कि यह दृष्टि विशेष से लक्षित वस्तु के किसी पक्ष का होता है। यह केवल इस अर्थ में असम्पूर्ण या अपर्याप्त होता है कि ये अर्थ अनवगाह्य होते हैं और हम उसी सीमा तक इनकी गहराई में उतर पाते हैं जितनी हमारी चेतना उज्ज्वल, क्रान्तदर्शिनी और आवरण-मुक्त हो पाती है। यह बात हमारी अपनी रची कृति की विवेच्यता से और स्वयं हमारी आत्मा, जो आत्मचेतन चेतना की आद्य कृति है, के स्वरूप की सर्वाधिक गुह्यता से, स्पष्ट है। और द्रष्टव्य है कि सब काव्य, शास्त्र, बर्तन, भवन, यंत्र और उपकरण चेतना की ही कृतियाँ हैं और परिणामतः ये अनवगाह्य अथवा अनन्त अर्थों की अभिव्यक्तियाँ हैं।

हमारे ज्ञान का एक दूसरा क्षेत्र सदसद् विवेक का है जिसे लेकर सापेक्षतावाद का प्रतिपादन किया जाता है। कहा जाता है कि अपने आप में न कुछ सत् है न असत् है, यह केवल हमारे मानने की, रुचियों और धारणाओं की बात है। अलग-अलग देश, काल और संस्कृतियों में मूल्य विषयक, सदसद् विषयक, उचित-अनुचित विषयक, अलग-अलग धारणाएँ होती हैं, व्यक्ति-भेद से भी रुचि-भेद होता है, इनका इनसे आगे कोई आधार नहीं होता। यह प्रतिपत्ति सही है और बहुत दूर तक ऐन्द्रिय विषय-ज्ञान की भी यही स्थिति है, जैसाकि हमने पीछे देखा। किन्तु यह चेतना की उस सहज-प्राकृतिक अवस्था में ही सही है जिससे चेतना उत्तीर्ण होने में समर्थ होती है। सदसद्-विवेक का तो आविर्भाव ही चेतना के अपनी सहज प्राकृतिक अवस्था से उत्तीर्ण होने के साथ होता है। जैसे मानवीय वस्तु-ग्रहण अध्यवसायात्मक होता है और वह चेतना के आत्मचेतन स्तर पर अध्यारूढ़ होने को अपेक्षित करता है, उसी प्रकार सदसद्-विवेक चेतना के आत्मचेतन होने और अपनी अस्मिता को आत्म-प्रत्यय रूप में ग्रहण कर सकने के स्तर पर अध्यारूढ़ होने को अपेक्षित करता है। चेतना का यह स्तर निरपेक्ष ज्ञानात्मक ही होता है – अपने वस्तु-ग्रहण में भी और सदसद्-विवेक में भी, किन्तु इस स्तर पर अध्यारोहण के भी आगे स्तर होते हैं, जिन्हें चेतना के सहज-प्राकृतिक अवस्था से उन्नयन के स्तर कहा जा सकता है। 'इस परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिए?' यह प्रश्न जिस चेतना के सम्मुख उपस्थित होता है वह निरपेक्ष सत्यान्वेषी चेतना ही होती है, किन्तु उसका यह अन्वेष्य अत्यन्त जटिल और दुरवगम्य होता है, क्योंकि इसमें विवेचन के विषय स्वयं चेतना की वे वृत्तियाँ ही होती हैं जो विवेचक चेतना को आवृत करती हैं। ये वृत्तियां सद्दृष्टि और सन्मार्ग में बाधक होती हैं और इनके अधीन किये गए निर्णय और कार्य असत् होते हैं, इस बात को लेकर संस्कृतियों में कोई मतभेद नहीं है। कुरु-क्षेत्र में दो युयुत्सु सेनाओं के बीच खड़े अर्जुन के सम्मुख समस्या थी कि उसे युद्ध करना चाहिए या नहीं? अब, प्रकटतः युद्ध एक बाह्य, इन्द्रियगम्य वस्तुस्थिति है, किन्तु वास्तव में इसका यह पक्ष पर्याप्त विकसित उचित-अनुचित विवेक द्वारा परिभाषित मानव-कर्म का नितान्त ऊपरी पक्ष है। इसमें विशेष प्रकार से कल्पित दो मानव-समुदाय 'सेनाएँ' कहे जाते हैं और इनमें व्यक्ति 'व्यक्ति' नहीं होकर सेना के रूप में परिभाषित मानव-समुदाय का अंग होता है। इस रूप में उसके द्वारा दूसरे ऐसे ही रचित समुदाय के अंगभूत व्यक्ति का वध 'हत्या' नहीं माना जाता ... आदि। इस सम्पूर्ण

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'वस्तुस्थिति' की उपेक्षा कर हम अर्जुन के सम्मुख प्रस्तुत कर्त्तव्याकर्त्तव्य के प्रश्न को यदि देखें तो यहाँ परिस्थिति है कि उस युद्ध का प्रयोजन क्या है? जिनसे युद्ध किया जा रहा है वे भाई-बन्धु भी हैं और ऐसे व्यक्ति भी जिनके कारण युद्ध की परिस्थिति उत्पन्न हुई। अब, यहाँ प्रश्न है कि युद्ध करने के औचित्य के निर्धारण में क्या यह बात प्रसंगिक है कि दूसरा पक्ष आपके भाई-बन्धुओं का है? दूसरे, क्या युद्ध की परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए केवल दूसरे पक्ष को दोषी ठहराया जा सकता है? यदि ठहराया जा भी सके तो भी यह कैसे निर्णय हो कि उनका वह कर्म दुष्ट है? यह परिस्थिति एक निरपेक्ष नैतिक वस्तुस्थिति है।

यह सब देखने के योग्य होने के लिए 'देखने वाली' चेतना का अपने अन्तर्गत किन दोषों या आवरणों से मुक्त होना आवश्यक है, श्री कृष्ण **गीता** में उसका विवेचन करते हैं। इन दोषों को भी प्रायः हम सब जानते हैं, किन्तु तब, परिस्थिति विशेष में हम यह जानने में असमर्थ होते हैं कि हमारा कर्त्तव्य क्या है? अर्जुन की कठिनाई यही थी। श्री कृष्ण उसे जो बताते हैं वह कर्म मात्र के विषय में है, उस परिस्थिति विशेष के विषय में नहीं जो अर्जुन के सम्मुख उपस्थित है। युद्ध के लिए सम्मुख कौन उपस्थित है, क्या यह युद्ध करने का निर्णय लेने में अप्रासंगिक है? सामान्यतः प्रेम कर्त्तव्य-निर्णय में चेतना का आवरक होता है, किन्तु क्या प्रेम स्वयं में एक मूल्य नहीं है? कब इस मूल्य को रक्षणीय माना जाय, कब त्याज्य? श्री कृष्ण एक और आधारभूत बात कहते हैं जो कर्त्तव्य-निर्णय में सामान्य नियम-निर्धारण के विपरीत जाती है, किन्तु वह वास्तव में आधारभूत है। वे कहते हैं–मेरे प्रति जो जिस भाव से प्रपन्न होता, उन्मुख होता है, उसे मैं उसी रूप में मिलता हूँ–'यो यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' अर्थात् ईश्वर के प्रति, सार्वभौम-सर्वव्यापी सत्य के प्रति, प्रस्तुत होने के अनेक मार्ग हो सकते हैं। वे सभी समान रूप से प्रामाणिक होंगे यदि प्रस्तुत होने वाला उस सत्य के प्रति उन्मुख होने में अपने अन्तस् में प्रामाणिक हो – सच्चा हो। अब, यहाँ सद्-असद्-निर्णय में किसी बाहरी सामान्य नियम की अस्वीकृति है, केवल अन्तस् के सम्बन्ध में एक सामान्य नियम है कि किसी कर्त्तव्य के निर्णय में कर्त्ता के चित्त का निर्मल होना, निराग्रही होना, और सत्य के प्रति पूर्णतः निवेदित होना आवश्यक है। कहा जा सकता है कि यह कर्त्तव्य-निर्णय में सापेक्षतावाद का ही समर्थन है। किन्तु वास्तव में यह ऐसा नहीं है, क्योंकि सदसद्, कर्त्तव्याकर्त्तव्य ऐन्द्रिय विषय के समान बाह्य देश-स्थित विषय या 'वस्तु' नहीं हैं बल्कि अन्तस् से साक्षात्कार्य अर्थ ही हैं। किन्तु इस अन्तस् का उन उपाधियों से मुक्त होना आवश्यक है जो उसे उसके सार्वभौम रूप को देख सकने वाली दृष्टि को बाधित करती हैं। यह सार्वभौम अर्थ बाह्य वस्तु के समान कोई सर्वसामान्य नहीं होता, बल्कि अनेक पक्षों से ग्रथित जटिल वस्तुस्थिति होता है, जिसकी सार्वभौमता की प्रतिष्ठा स्वयं चेतना की सार्वभौमता में ही होती है, और चेतना की यह सार्वभौमता उसके उन उपाधियों से मुक्त होने में लभ्य होती है जो उसके इस स्वरूप को संकुचित करती : विषयिनिष्ठ बनाती : हैं। यह बात एक स्थूल उदाहरण से समझी जा सकती है–दो विरोधी व्यक्तियों के बीच न्याय करने के लिए किसी को नियुक्त करते हुए यह आवश्यक माना जाता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है कि उन व्यक्तियों में से कोई न्याय-कर्त्ता का सम्बन्धी नहीं हो। क्योंकि यह परिस्थिति न्याय-कर्त्ता के न्याय करने में तो बाधक हो ही सकती है, उसकी न्याय-दृष्टि में भी बाधक हो सकती है, और इस, तथा इस प्रकार की अन्य बाधाओं से मुक्त चेतना 'न्याय का अव्यवहित साक्षात्कार' कर सकती है। द्रष्टव्य है कि इसमें यह आपादित है कि चेतनागत उपाधियाँ ही चेतना में उसके स्वरूप की आवरक होती हैं और ज्ञान उस चेतना का स्वरूप है। ऐसा बहुत से भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों और ग्रीस के दर्शन-सम्प्रदायों, विशेषत: प्लेटो में, माना भी गया है। इससे अन्तत: यह निगमित होता है कि सब जीव-रूप चित्सत्ता पर उपाधि-रूप हैं और शुद्ध चित् इनसे पूर्व और परत: स्थित सत्ता है। ऐसा मानने में कोई कठिनाई नहीं है यदि इसे प्राकृतिक अस्तित्व की पदावली में नहीं समझ कर अर्थत: ही समझा जाय। इस दृष्टि से इसका अर्थ है कि चेतना में सदसद् विवेक की निरपेक्ष क्षमता होती है और कि सदसद् को लेकर दृष्टि-भेद सदसद् विवेक की रुचि-मूलकता और इस प्रकार रुचि-सापेक्षता को सिद्ध नहीं करता। यह भेद केवल ऊपरी बाना भी हो सकता है। उदाहरणत: शीलविषयक धारणाएँ बहुत भिन्न हो सकती हैं किन्तु उनमें यह भेद ऊपरी व्यवहारगत ही होता है, स्वयं शीलगत नहीं। किन्तु तब 'जो मुझे जिस रूप में प्रपन्न होता है मैं उसे उसी रूप में उपलब्ध होता हूँ' का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है कि विशिष्ट व्यक्ति-स्वभाव और विशिष्ट परिस्थितियाँ भी सदसद् की अंगभूत होती हैं, इसलिए शुद्ध चित्त वाले दो व्यक्ति अपने कर्त्तव्य-निर्धारण में प्रकटत: विरुद्ध कर्म कर सकते हैं, किन्तु गहराई से देखने पर वह विरोध ऐसा नहीं होता कि या तो एक को उचित और दूसरे को अनुचित कहा जाय या सदसद् को रुचिमूलक माना जाय। उदाहरणत:, साधारण रूप से किसी का सिद्धार्थ के समान पत्नी और बच्चे को सोते छोड़ कर चले जाना उचित नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह साधारण नियम सिद्धार्थ पर लागू नहीं होता। इसी प्रकार पॉल गॉगिन[1] भी अपनी पत्नी और बच्चों को छोड़ कर चला गया था। वह उचित था या नहीं, इसका मानदण्ड बाहर से निर्धारित नहीं किया जा सकता। ऐसे निर्णय व्यक्ति-चेतना में नितान्त गुहागत होते हैं और उन पर पहुँचने के लिए केवल उस गुहा में प्रविष्ट हो सकना ही अपेक्षित होता है। उस गुहा में प्रवेश के लिए व्यक्ति को अपनी चेतना के सब आवरणों को हटाना और अपने संकल्प को सँजोना अपेक्षित होता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति के सम्मुख जो अन्तर्द्वन्द्व और धर्म-संकट उपस्थित होते हैं, जो साधारण मर्यादाओं और अन्त:साक्ष्य के बीच व्यामिश्र उपस्थित करते हैं, उनके बीच से आत्म गुहागत धर्म के तत्त्व को देख पाना अत्यन्त दु:साध्य

1. पॉल गॉगिन एक अंग्रेज़ चित्रकार था जो पहले एक बैंक में कार्य करता था और उसकी गृहस्थी थी। एक दिन वह अकस्मात् बिना बताये घर छोड़ कर चला गया। इंग्लैण्ड का एक प्रतिष्ठित लेखक सोमरसट मॉम उसका पारिवारिक मित्र था। वह उसे खोजते हुए पैरिस पहुँचा और उसे वहाँ के एक होटल में मिला। उसने उसे कैसे समझाने का प्रयत्न किया और उसने कैसे उसकी एक नहीं सुनी, इसका अत्यन्त मार्मिक विवरण सोमरसट मॉम ने मून एण्ड दि सिक्स पेंसिस पुस्तक में दिया है, जो गॉगिन के जीवन की औपन्यासिक प्रस्तुति है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

होता है। निश्चय ही यह सब *व्यक्तिगत* ही होता है, किन्तु यह व्यक्ति उस अंतर्गुहावासी से अभिन्न होता है जो सब उपाधियों : आवरणों : से मुक्त है, जो प्राकृतिक सर्व जन के पूर्वाग्रहों से परे स्थित तत्त्व को देख पाता है। यहाँ इसके प्रतिवाद में कहा जा सकता है कि इसमें स्पष्टतः एक सापेक्षता देखी जा सकती है – कहा जा सकता है कि सिद्धार्थ और पॉल गॉगिन दोनों का गृह-त्याग उचित होने पर भी उनकी व्यक्तित्व-रचना के भीतर से, उसकी सापेक्षता में ही, उचित कहा जा सकता है, स्वयं इन दोनों के भी ये प्रकटतः एक से कर्म, सर्वथा भिन्न हैं, जिसका कारण इन दो का नितान्त भिन्न प्रकार के व्यक्ति होना है। किसी अन्य व्यक्ति, जैसे महात्मा कबीर और महात्मा गान्धी के लिए यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं हुआ। कहा जा सकता है कि जिस सम्बोधि के लिए सिद्धार्थ को 'निष्क्रमण' करना पड़ा और उसका वह निष्क्रमण उसकी सम्बोधि से 'महाभिनिष्क्रमण' सिद्ध हुआ, मोहनदास कर्मचन्द गान्धी को वही 'सम्बोधि' एक अंग्रेज़ ऑफीसर द्वारा गाड़ी से बाहर फेंक दिये जाने पर प्राप्त हुई। क्या यह सापेक्षता नहीं है? सम्बोधि की सापेक्षता? क्योंकि ये दो सम्बोधियाँ उनकी व्यक्तित्व-रचना की सापेक्ष हैं? अन्यथा इनमें कोई भी समानता नहीं है? इनमें प्रकाशित या अधिगत सत्य 'एक' नहीं है, ये व्यक्ति-सापेक्ष दो सत्य हैं। इनके स्थान पर यदि ईश्वर को रखा जाय जो सत्य के साथ अभिन्न है, तो उसके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि दो ईश्वरों के अपने-अपने सत्य हो सकते हैं, क्योंकि ईश्वर दो नहीं हो सकते, और ईश्वर दो इसलिए नहीं हो सकते क्योंकि पूर्ण सत्य दो नहीं हो सकते?' यह ठीक नहीं है। वास्तव में ईश्वर और मनुष्य में यह भेद नहीं है कि मनुष्य का सत्य अपूर्ण होता है और ईश्वर का पूर्ण, इनमें भेद यह है कि मनुष्य अपने सत्य से व्यवहित होता है और ईश्वर अव्यवहित। मनुष्य के अपने सत्य से व्यवहित होने से उस सत्य तक पहुँचने के मार्ग भी मनुष्य के लिए अनेक हो सकते हैं और वे सब मार्ग अनन्त भी हो सकते हैं। वास्तव में मनुष्य और उसके सत्य के बीच का व्यवधान कभी पूर्णतः समाप्त नहीं होता, वह न्यूनतम ही हो सकता है। किन्तु यह भी सत्य की प्रकृति पर निर्भर करता है। जहाँ अन्वेष्य बाह्य है, जैसे भौतिक वस्तु, जैव देह या मानव-मन भी, वहाँ व्यवधान कभी लंघ्य नहीं होता, कृति और विचार को भी इसी में वर्गीकृत किया जा सकता है, किन्तु भाव में, उसकी विषयिता में वह लंघ्यवत् हो सकता है। भक्त और भगवान के बीच, दो प्रेमियों के बीच की दूरी इसी प्रकार की होती है। कबीर या नानक या रामकृष्ण परमहंस और उनके आराध्य के बीच का व्यवधान इसी प्रकार का है। कबीर के निम्न दोहे में इसका अत्यन्त विदग्ध निरूपण है–

पियतम को पतियाँ लिखूं जो कोइ होय बिदेस,
तन में, मन में, नयन में, वा को कहा सँदेस?

या हीर के अपने इस निरूपण में–

राँझा राँझा आखदी, मैं आपेई राँझा होई।

निश्चय ही यहाँ भी एक व्यवधान है – कबीर और उसके प्रियतम के बीच और हीर और राँझा के बीच यह व्यवधान ही प्रेम का और उसकी तड़प का या प्रेमी के प्रिय के प्रति

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

तन्मयीभाव का हेतु है किन्तु इस तड़प की या भाव की तीव्रता उसके विलय की हेतु भी होती है। यद्यपि इस तड़प को या तन्मयी भाव को बनाये रखने के लिए व्यवधान बना रहना भी आवश्यक होता है।

बाह्य विषय और अन्वेषक के बीच व्यवधान की अलंघ्यता बाह्य को नितान्त बाह्य : अन्य : सिद्ध नहीं करती। जैसाकि हमने पीछे देखा, इस बाह्यता का उद्‌गम-स्थल चेतना का अपना विषयकरण ही होता है–'मैं' का अपना अपने को विषयरूपेण प्रस्तुत होना। इसी मूल से इन्द्रियगम्य अर्थ 'भौतिक' रूप में और अन्य अर्थ उपकरणों, कला-कृतियों, विचारों, भावनाओं और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य कर्मों के रूप में सत्ता-लाभ करते हैं। किन्तु इस बाह्यता में ये ऐसा रूप लेते हैं कि ये गहराई में अथाह और विस्तार में अपार हो जाते हैं। अर्थों की यह अथाहता और अपारता 'अहं' के विषयकरण : बाह्यार्थ रूपेण प्रापण : से वंचित जैव चेतना को उपलब्ध नहीं रहती। इनकी इस अपारता और अथाहता का व्यक्ति-चेतना अपनी निर्मलता की सापेक्षता में और पार पाने के प्रयत्न से ही अवगाहन कर पाती है–श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा, जैसाकि भौतिक विज्ञान और तकनीकी में भी सृजनात्मकता से देखा जा सकता है। चेतना की यह सृजनात्मकता चेतना में अकूत अर्थों के उन्मेष के रूप में लक्षित होती है और चेतना के लिए विषयों के अन्तस् को आलोकित करती है। किन्तु विषयता का यह स्वरूप विषयों की विषयिनिष्ठता सिद्ध नहीं करता, बल्कि यही उनकी स्वतन्त्र विषयता का हेतु होता है। ये विषय, स्वयं आत्मा और विषयिता के सहित, स्वरूपतः सामान्य, निरपेक्षतः निरीक्ष्य और विवेच्य होते हैं।

यहां यह ध्यातव्य है कि चेतना की यह स्थिति उसे आत्मान्वेषण के, जो सत्यान्वेषण से अभिन्न है, कठोरतम प्रयत्न के फल स्वरूप ही सिद्ध हो पाती है। जैव विकास का सुदीर्घ और अत्यन्त क्रूर इतिहास इसका साक्षी है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

धर्म और नीति : मानव कर्म के सन्दर्भ में

धर्म और नीति का युगल-भाव

मुकुन्द लाठ

पिछले लेख में मैंने प्रश्न उठाया था कि, 'मनुष्य होना अगर आत्मचेतन होना है तो क्या हम मनुष्य-सामान्य और मनुष्य-विशेष इन दोनों भावों में आत्मचेतना की बात कर सकते हैं? या यों कहिये कि क्या आत्मचेना के समष्टिगत और व्यष्टिगत, ये दो आयाम होते हैं?' स्पष्ट ही समष्टिगत *आत्म*-चेतना की बात विसंगत जान पड़ सकती है। आत्मचेतना (मैं अपने आप को जान रहा हूँ) जिस अनुभव में जागती है वह मनुष्य व्यक्ति को ही होता है। मनुष्य-सामान्य में – मनुष्य-जाति या मनुष्य-समाज में– ऐसे अनुभव की बात असमंजस लगती है। बात का अर्थ ही बनता नहीं लगता।

पर हम आगे देखेंगे कि चेतना का जो प्रकाश आत्मचेतना में जागता है, वही मनुष्य-जाति या मनुष्य-सामान्य में भी है। सामान्य के माध्यम से ही मनुष्य-विशेष में जागता है।

आत्मचेतन होते हुए हम अपने आपको अन्यों में एक अन्य के रूप में पाते हैं, यह जानते हुए कि हम मनुष्य-सामान्य के अंग हैं। या यों कहिये कि हम 'सामान्य' के ही एक 'विशेष' होते हैं, और इसका बोध रखते हैं। हम विशेष की विशिष्टता से बँधे भी होते हैं – देह, प्राण, मन, बुद्धि, या प्रज्ञा-प्रतिभा भी, ये सारी वृत्तियाँ हमारी अस्मिता के विशेष से वलयित रहती हैं। पर मैं अपने प्रति चेतन होता हूँ तो एक मनुष्य के रूप में ही अपने आप को देखता-जानता-परखता हूँ। आपत्ति में कहा जा सकता है कि 'मनुष्य-सामान्य' मेरी चेतना में एक प्रत्यय – एक विकल्प – ही होता है। पर यह कोरा विकल्प ही नहीं होता, इससे गहरा, अनुभव में उतरा, प्रवृत्ति में ढला, बोध होता है – मेरा अन्य का बोध मेरी बुद्धि में ही नहीं, संवेदना, सहानुभूति के परस्पर-भाव में भी जागता है, अन्य के प्रति आत्मबोध का रूप लेता है, प्रेम, मैत्री जैसे भावों में व्याप्त होता है। बुद्धि के स्तर पर भी बोध में एक व्यापकता होती है : अपने अन्य-को-समेटते सामान्य बोध में मैं यह भी स्फुट या ऊह्य-प्रच्छन्न भाव से जानता हूँ कि जिस जगत् में मैं रहता हूँ वह मनुष्य का जगत् है – वह मनुष्य-मात्र के लिए 'वही' है, अन्य प्राणियों के लिए हो न हो : मुझ सा कोई भी मनुष्य उसी धरती पर उसी आकाश तले, उसी परिसर में, उसी 'लोक' में रहता है, जो मेरा भी लोक है। मैं यह भी जानता हूँ कि अन्य में भी इस सामान्यता का बोध है, जो मुझ में है। मेरे भाषा-ज्ञान में यह स्पन्दित होता है। अन्य प्राणियों से मुझमें यह गहरा भेद है कि मैं इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जगत् के स्वरूप पर – इसकी सत्ता पर, इसकी सार्थकता पर भी, प्रश्न उठा सकता हूँ – यह जानते हुए कि ये प्रश्न और इन पर विचार भी अन्य -मनुष्य-साधारण होते हैं।

पर इस सामान्यता के बावजूद *मनुष्य-सामान्य* का सामान्य या जाति-रूप में '*आत्म*-चेतन' होने पर प्रश्न स्वाभाविक है - क्योंकि *सामान्य* में *आत्म* की बात नहीं बनती। यों भी मनुष्य-सामान्य जहाँ एक कोरा विकल्प - बुद्धि की एक उद्गृहीत धारणा मात्र - नहीं भी होता है, वहाँ भी वह मेरी – व्यक्ति-विशेष के रूप में 'मेरी'– आत्मचेतना में ही सार्थक-सप्राण होता है। अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों के प्रति ही नहीं, मनुष्य-सामान्य के प्रति मैं संवेदना-सहृदयता रख सकता हूँ, पर मनुष्य-सामान्य के आत्म-चेतन होने की कल्पना नहीं कर सकता – वहाँ उस अस्मिता में जागते आत्मा का अभाव है जो आत्मचेतन होता है।

फिर भी अन्य के ही नहीं 'सब अन्यों' के आत्मचेतन होने की बात सहज है। बल्कि मुझे लगे कि अन्य आत्मचेतन नहीं है, तो मेरे लिए वह पूरी तरह से अन्य ही न होगा - चाहे अन्य मेरे लिए व्यक्ति-रूप में ही आत्मचेतन होता है, सामान्य के रूप में नहीं।

अन्य मेरे लिये नितांत अन्य भी नहीं होता। मुझमें अन्य के प्रति परस्पर-भाव होता है। यह प्रतिष्ठित सामान्य-भाव में ही होता है जो मेरी चेतना की उस धरती पर बसता है जहां भाषा रूप लेती है। भाषा सामान्य-चेतना को व्यक्त करती है, उसी चेतना में रूप लेती है। यों मेरी चेतना की विकल्प-क्षमता ही भाषा से अविनाभूत होती हुई, *मेरी* आत्मचेतना में प्रस्फुटित होती है, उसे रूप देती है। जो चेतना भाषा को माध्यम बनाती है, वह मेरी नहीं, सामान्य होती है। सामान्य-चेतना में रहता हुआ ही मैं अन्य-सामान्य भी होता हूँ – अन्यों में अन्य, जहाँ अन्य भी 'मैं'-स्थानीय हो सकता है। मैं भी अपने आपको 'वह' के रूप में – अन्य के रूप में– देख-परख सकता हूँ। पिछले लेख में इस बात की हम चर्चा कर भी आये हैं। बात केवल विकल्प-ग्रहण-करती बुद्धि की ही नहीं है, और व्यापक है, हमारी संवेदना में भी घर करती है, और यों साक्षात् अनुभव में उतरती है। हम नाटक में अन्य की देह में किसी और देही के अनुभव की बात कर ही आये हैं। कथा-कहानी में हम अन्य के चित्त में – उसके तद्-व्यक्तित्व में सीधा सा प्रवेश करते हैं। अन्य की सामान्यता यहाँ विकल्प मात्र से कहीं आगे बढ़ जाती है। 'ठोस', सजीव हो उठती है।

पर इतने के बाद भी मनुष्य-सामान्य में आत्मचेतना की स्वीकृति पर अंकुश लगाया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि कथा कहानी में भी संवेदना *मेरी* ही रहती है। संवेदना का एक सामान्य – साधारणीकृत – भाव जागता है, पर जागता *मुझ* में ही है। पर हम कहानी से भी आगे बढ़ सकते हैं - क्योंकि जीवन के धरातल पर भी अन्य के प्रति संवेदना की बात सार्थक है। यह संवेदना बृहत् भी हो सकती है, मनुष्य मात्र के प्रति उन्मुख हो सकती है – जैसे बोधिसत्त्व की चेतना। इस पर भी कहा जा सकता है कि संवेदना के बृहद्-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

भाव की जड़ भी आखिर को *मेरी* आत्मचेतना पर ही टिकती है। मेरी आत्मचेतना ही अपनी अस्मिता से – अपने सीमित आत्म, अपने अहं से – उठ कर व्यापक हो जाती है। हां, विकल्प-मात्र नहीं रहती, पर रहती मुझमें ही है। मैं पाता हूं कि मेरी आत्मचेतना मेरे बोध के अन्तरिक्ष को जहाँ एक ओर सामान्य में खोलती है वहीं दूसरी ओर मुझे एक विशेष में घेरे भी रखती है। मुझ में एक आत्म का वलय बनाती है। एक विचित्र सा केन्द्र बनाती है मुझमें आत्मचेतना, जिसकी नाभि से मैं छिटक नहीं सकता, चाहे कितना ही बाहर की ओर बाँहे फैलाऊँ। इस केन्द्र से मैं विलग हो जाऊँ तो आत्मचेतन ही नहीं रहता।

पिछले लेख में मैंने आत्मचेतना को 'मध्यस्थ' कहा। इस धारणा को यहां एक प्रसार दूँगा। कह चुका हूं कि मेरी आत्मचेतना मुझे अवचेतन और अतिचेतन के बीच रखती है। बात को यों कहना अधिक उचित होगा कि एक पराक् और प्रत्यक् स्थिति के मध्य रहती है आत्मचेतना। पराक् अवस्थाओं में नींद या मूर्छा ही नहीं, संस्कार, वासनायें भी रहती हैं। प्रत्यक् अवस्थाओं में आत्म का आपा क्षीण हो जाता है, पर आत्म के परे आत्म की ही ओर मुड़ते हुए। ऐसी यात्रा में ही हम प्रज्ञा-प्रतिभा की बात करते हैं। पर साधारणतः मैं संस्कार-वासना के अवचेतन और प्रज्ञा-प्रतिभा के अतिचेतन के बीच ही तैरता रहता हूँ। यहीं इन दोनों से 'परिचित' होता हूँ। यहीं मैं बाह्य-जगत् का, अन्य का भी अनुभव करता हूँ। इन पर प्रश्न उठाता हूँ, इनकी परख, इनका अन्वेषण, इन पर विमर्श करता हूँ। यों प्राश्निक के रूप में भी मैं मध्यस्थ होता हूं। जगत् या अन्य के विषय में कुछ करने का संकल्प, साधना, वह भी मैं आत्मचेतना की मध्यस्थता में ही करता हूँ। यह मध्यस्थता अस्मिता के आत्म को एक केन्द्र के रूप में रखती है। इसे अस्मिता का केन्द्र कह सकते हैं। पर 'विचित्र' होता है यह केन्द्र, अपने आप में केन्द्रित नहीं रहता। 'आत्म' ही यहाँ बँटा हुआ होता है। आत्मचेतना का आत्म अपने आप से हटकर – या उठकर – लेकिन फिर भी अपने भीतर ही - अपना वीक्षण करने में समर्थ होता है, वह स्वरूप से ही प्रत्यक् या प्रत्यङ्मुख होता है। या यों कहिये कि वह प्रत्यक् होता हुआ पराक् होता है – अपने पीछे हटकर अपनी ओर मुड़ता है – तभी आत्मचेतना की बात बनती है। अनात्मचेतन आत्म इस अर्थ में 'आत्म' ही नहीं होता, एक अहं होता है, चेतना का एक केन्द्र मात्र होता है, जैसा पशु में। उसे चेतन कह सकते हैं, 'आत्मचेतन' नहीं। चेतना की अपनी आत्म-अवगति के बिना वह अहं अस्मिता के अपने-को-जानते-हुए 'मैं' का रूप नहीं लेता।

कह आया हूं कि 'मैं' का बोध भाषा-चेतना से संभव होता है। मनुष्य में आत्म का अपना वीक्षण कर पाना, यह भाषा के माध्यम से होता है। तभी मैं भाषा को 'अपूर्व विधि' भी कह आया हूँ - चेतना में एक ऐसा स्फोट, कार्य-कारण शृंखला से परे जागता एक ऐसा पूर्व-भाव-रहित उन्मेष जो चेतना के लिए अपने ही द्रष्टा हो पाने की विधि – माध्यम और उपाय – बनता है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चेतना के अहं-भाव में – चाहे वह पशु का हो या मेरा हो – उसमें एक सापेक्षता-साकांक्षता होती है जो एक ग्राह्य-ग्राहक भाव को जन्म देती है। इसी से एक 'अंतः और बाह्य' का भी उद्भव होता है। मनुष्य में आत्मचेतना के साथ यह अन्तः आत्म-विभक्त हो कर आत्म-द्रष्टा हो जाता है – इसमें ग्राह्य-ग्राहक भाव से ऊपर एक ग्राहक जाग उठता है, जिसके लिये मूल ग्राह्य-ग्राहक भाव ग्राह्य हो जाता है। तभी ज्ञान संभव होता है। ग्राह्य-ग्राहक भाव के ऊपर जागता ग्राहक प्रत्यक्-प्राण भी होता है – ग्राह्य के रूप में पकड़ में नहीं आता, वह जानता है, जाना नहीं जाता। मैं उसे पकड़ना चाहूँ तो पीछे हट जाता है। पर इसी प्रक्रिया में 'मैं' का उद्भव होता है। प्रत्यक् 'मैं' या प्रत्यक्-आत्म ग्राह्य नहीं होता, अदृष्ट ही रहता है। वह विषय नहीं होता, विषयी ही रहता है। पर उसके प्रत्यक्-व्यापार के भीतर से ही ग्राह्य-ग्राहक भाव उजागर होता है – मेरा ग्राहक 'मैं' बनता है। पराक्-प्रत्यक् के बीच मध्यस्थ हो जाता है। मैं अपने अनुभूत आत्म, अपनी 'अस्मिता' के गर्भ में – नेपथ्य में – सदा एक और आत्म को पाता हूँ जो आग्रह्य ग्राहक, अज्ञेय आत्म ही रहता है, किसी अर्थ में 'मेरा' होते हुए भी 'मैं' नहीं होता।

इस व्यापार या प्रक्रिया में हमारा अनुभूत ग्राहक भाव, जिसे द्रष्टा या ज्ञाता भी कह सकते हैं, वह आत्मचेतना का एक ऐसा केन्द्र बन जाता है जिसके ग्राह्य का पसारा अपने भीतर-बाहर दोनों ओर फैलता है। यह अपने को देखता-जानता केन्द्र है, इसका ग्रहण भाषा-चेतना में घर करता हुआ सामान्यों में विमर्श करता ग्रहण होता है। यों मेरी विमर्श-चेतना मुझमें होती है पर 'मेरी' नहीं होती – सामान्य में स्थित होती है। मेरी अस्मिता की सामान्य-निष्ठता मुझमें आत्मचेतन ग्राह्य-ग्राहक भाव का स्वप्रकाशित वलय बनाती है, जहाँ मैं अपना द्रष्टा होता हुआ अपने ग्राह्य का ज्ञाता, विमर्श-कर्त्ता होता हूँ। यह वलय मेरे बाहर भी फैलता है, भीतर भी। यह मेरी मध्यस्थता का वलय है।

भीतर-बाहर फैलता हुआ यह मुझे एक घेर के भीतर रखता है – मुझे 'व्यक्ति'-रूप देता है। सामान्य में घर करता भी, आत्मचेतन 'मैं' ही होता हूँ - ज्ञातृत्व में ही नहीं, भोक्तृत्व और कर्तृत्व में भी, बल्कि इनमें और भी निबिड़-भाव से। लग सकता है कि आत्मचेतना की बात द्रष्टा-भाव की, जानने-समझने की, 'ज्ञान' की, ही बात है। पर आत्मचेतना हमारी सभी वृत्तियों पर व्यापक होती है। हम 'ग्रहण' ही नहीं करते, भोगते भी हैं, कुछ करते भी हैं। बल्कि हमारा भोक्तृत्व और कर्तृत्व तो सचमुच अन्य-व्यावृत्त, नितांत *हमारा अपना* जान पड़ता है। हालांकि यह आत्माभिमान हममें आत्मचेतना के साथ ही जागता है, जिसके बिना 'भोक्तृत्व', 'कर्तृत्व' की बात ही खोखली रहती है। एक अंध-प्रवृत्ति मात्र होती है। विमर्श-निष्ठ नहीं होती, साध्य नहीं होती।

प्रसंगवश दो शब्द भोक्तृत्व और कर्तृत्व की सा मान्यता के बारे में कहता हुआ आगे बढ़ता हूँ।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लेखमाला के आरंभ में ही हमने भोक्तृत्व में जागते चेतना के सोपान की बात की थी। 'रुचि' के इन्द्रिय-बोध से ऊपर उठती 'रस'-चेतना की बात की थीं – जिसे इन्द्रियों के परे कहते हुए, विमर्श-धर्मी भी कह सकते हैं। रस चेतना में एक निहित निरहं अन्य-सामान्यता होती है, जो 'रुचि' में नहीं होती। पुराने चिन्तकों ने तभी उसमें साधारणी-करण की बात की है। जिस चेतना में हम रस का अनुभव करते हैं, वह आत्मचेतना के सामान्य का धरातल होता है – तभी रुचि मात्र से उठ कर रस की बात उठती है। और तभी रस के संदर्भ में ऐसे गुणों की चर्चा हो सकती है जो इन्द्रिय-बोध मात्र से ऊपर उठते हैं तो 'मेरे' भी नहीं रहते, सामान्य हो जाते हैं – जैसे भव्यता, उदात्त-भाव, सौम्यता ...। हम जब किसी महत् शिल्प के सम्मुख होते हैं, जो इन्द्रिय-ग्राह्य भी हो, जैसे चित्र, मूर्ति, नृत्त, वास्तु ... तो भी उसका ग्रहण चेतना की जिस भूमि पर करते हैं वहाँ बात निरे 'आस्वाद' की, 'पसन्द आने की', 'अच्छा लगने' की नहीं होती। वहाँ हम 'सौषम्य' या 'कान्ति' या 'दीप्ति' ... जैसे जिन गुणों को देखते हैं उन्हें कृति-निष्ठ भी मानते हैं – और यों ग्राहक-मात्र के लिए सामान्य। ऐसे गुणों के बोध को हम अपने आप तक सीमित नहीं समझते – समझें तो उन गुणों का तद्-गुणत्व ही नहीं रहेगा, न उन्हें हम कृति-निष्ठ कहेंगे। हाँ, यहां सहृदयता का होना आवश्यक माना जा सकता है, जैसा कि ज्ञातृत्व में भी निर्भ्रान्त पकड़ को। रस-चेतना में भी चेतना का स्वातन्त्र्य उभरता है जो उसके प्रत्यक् होने का स्वभाव है, जबकि रुचि को हम आत्मचेतना का पराक्-भाव कह सकते हैं, जहां चेतना वासना-संस्कार से घिरी रहती है।

कर्तृत्व में भी हम ऐसा सोपान देख सकते हैं। यह भी पिछली चर्चाओं में उभर आया है। कर्मेन्द्रियाँ और उनकी प्रवृत्ति जीवमात्र में होती है – ज्ञानेन्द्रियों की तरह ही कर्मेन्द्रियाँ प्राण-व्यापार का अभिन्न अंग हैं, चाहे भिन्न जीवों में कितनी ही भिन्न हों। जीव अपनी जिजीविषा में ही 'बाहर' की ओर प्रवृत्त होता है। कुछ 'करता' भी है - जो प्रस्तुत होता है उसे अपनी चेष्टा से कुछ 'अन्यथा' करता है। एक ऐसी देह रखता हुआ करता है जिसमें 'देही' के 'अहं' की बात की भी जा सकती है। यह देही जो कुछ 'करता' है, उसे जड़-क्रिया मात्र नहीं कहा जा सकता। पर उसे 'कर्म' भी नहीं कहा जा सकता। कर्म प्रवृत्ति के भीतर विमर्श की अपेक्षा रखता है, संकल्प की अपेक्षा रखता है। कर्म में प्रवृत्ति निसर्ग-निमज्जित 'घटना' मात्र नहीं रहती, उसके भीतर एक 'कर्त्ता' जाग उठता है, जो स्वतन्त्र होता है (तभी 'कर्त्ता' होता है)। इसे चेतन देही में ही आत्मचेतना के प्रत्यक्-भाव का उदय कह सकते हैं। कर्म में संकल्प के साथ कर्म के औचित्य की चेतना जागती है, जो सामान्यता के बोध में बसती है, विमर्श-प्रेरित होती है। करने की सहज प्रवृत्ति अपने से उठकर अपने आप को देखती-परखती है – आत्मचेतन होती है। कर्मेन्द्रियों को निसर्ग-नोदना मात्र से नहीं, विवेक से चला सकती है। सामान्य में बसती हुई, अन्य को आत्म-स्थानीय देख सकती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

रस की तरह ही कर्म में साधारणी-करण होता है। संकल्प का औचित्य अन्य-सामान्य न हो तो 'औचित्य' ही नहीं कहला सकता। पर फिर भी एक बात है। ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व और कर्त्तृत्व का मेरे व्यक्ति-भाव से, मेरे 'मुझपन' से सम्बन्ध एक सा नहीं होता। ज्ञातृत्व में मैं सहज ही अपने अध्यवसाय को अन्य-सामान्य के रूप में देखता हूँ – मेरी अस्मिता मानो मेरे ज्ञान में अपचित रहती है। ऐसा अनायास ही होता है। पर भोक्तृत्व में, और उससे भी बढ़ कर कर्त्तृत्व में, मैं अपने को अपने 'आपे' से घिरा-कसा पाता हूँ। *मेरे* भोक्तृत्व, *मेरे* कर्त्तृत्व के प्रति मुझे चेतन करती हुई आत्मचेतना ही मानो मुझे अपने आप में और बाँध देती है। कर्म में तो बात घनीभूत सी होकर 'मुझ' तक सिमट आती है – कर्म की 'करनी', उसका दायित्व नितान्त 'मेरा' होता है - देही के रूप में मेरा - स्वतन्त्र, सामान्यीकृत कर्त्ता के रूप में मेरा होता है, पर होता 'मेरा' ही है। तभी कर्म के फल का सम्बन्ध 'मुझ से' माना जाता है। बल्कि, फल-भोक्ता के रूप में मैं मर्त्य देह का ही नहीं, मृत्यु का भी अतिक्रमण करता हूँ – किसी अपार्थिव देह से, किसी अपार्थिव लोक में फल भोग सकता हूं, पर किसी न किसी अर्थ में 'मैं' ही अपने किये का फल पाता हूँ।

मैंने आत्मचेतना को अवचेतन और अतिचेतन के बीच में स्थित कहा था। कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व में इस स्थिति का बोध हममें गहरा होता है। एक ओर हमारे संस्कार, प्रवृत्ति की बँधी-बँधाई रीतियाँ-गतियाँ हमें परवश रखती हैं, दूसरी ओर विवेक का स्वातन्त्र्य भी जागता है, जो कभी प्रतिभा के संकेत से भी अनुप्राणित जान पड़ता है। मैं दोनों के बीच बहुधा अपने आप को असमंजस में पाता हूँ। यह असमंजस विमर्श-बोध के साथ जागता है। सामान्यीकृत होता है - मेरा ही नहीं किसी का भी असमंजस हो सकता है। मैं अपनी कहानी कह कर उसकी बात कर सकता हूँ, और आप भी उसका भावन कर सकते हैं।

ज्ञान में मेरे आत्मचेतन सामान्य-बोध का और उसमें स्थित विमर्श का सम्बन्ध भाषा से अनायास जुड़ता है। पर कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व में इसके और आयाम भी प्रस्फुटित प्रतीत होते हैं। सच पूछिये तो जिसे हम भाषा-चेतना कह सकते हैं वह आत्मचेतना में निहित सामान्यता की *एक* अभिव्यक्ति है। पर अकेली नहीं। इतना तो हम साफ देख सकते हैं कि उसका माध्यम भाषा ही नहीं है, और भी हैं। संगीत में स्वर माध्यम होता है – या स्वर-संभार और स्वर-योजना कहना चाहिये : भाषा में भी शब्द नहीं शब्द-संसार और शब्द-योजना ही 'भाषा' होते हैं। चित्र में रेखायें, वर्ण होते हैं, मूर्तिशिल्प में आकृतियों का घनत्व, वास्तु में दिक् और देश भी उसी चेतना के मूर्त माध्यम बन जाते हैं। नृत्त में तो शरीर की चेष्टाएँ ही यह रूप ले लेती हैं। नृत्त की तरह ही कर्म का विमर्श भी एक स्वतन्त्र विमर्श होता है, भाषा उसका अनुषंग ही होती है। एक समझ, एक पकड़ होती है जो भाषा के बिना जागती है – पर जागती उसी चेतना में है जो भाषा का भी घर है। कर्म-कौशल कर्म-*विचार* नहीं होता, शिल्प-कौशल की तरह ही उसमें एक सूझ काम करती है जिसकी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अपनी आँख होती है। उसमें एक कला जैसी ही सामान्यता होती है, जो विचार के भाषा-निबद्ध प्रत्ययों का रूप नहीं लेती, पर होती अन्य-साधारण ही है : आत्म-चेतना-मात्र गम्य। तभी नृत्त के साथ कर्म की तुलना सार्थक है। बुद्धि का विमर्श भी कर्म पर व्यापृत होता है। पर बुद्धि भाषा के माध्यम से कर्म के स्वरूप को नियमों में ढालती है – चाहे अपनी कर्म-दृष्टि का आधार कुछ भी बताये (आर्ष कहे या अनार्ष) - जबकि कर्म की प्रतिभा या प्रज्ञा नृत्त-प्रतिभा की तरह ही नियम से नहीं चलती – एक अन्तर्दृष्टि से चलती है जो नियम में नहीं समाती। नियम कितने ही सामान्य हों, फिर भी बाँधते हैं, रूढ़-निष्प्रज्ञ हो जाते हैं, वह स्वतन्त्र होती है। तभी कृष्ण ने नृत्त की तरह ही उसे किसी 'करने वाले' से सीखने की बात की है – कहा है कि किसी प्राज्ञ कर्मशील की लौ से ही उसकी लौ जगाई जाती है। (कृष्ण की इस उक्ति की चर्चा मैं अन्यत्र, अपनी पुस्तक **धर्म-संकट** में कर आया हूँ।)

कला में – और कर्म में – अभिव्यक्त रूप अपने परे एक अर्थ की व्यंजना करता है। भाषा की तरह उसमें सामान्य की स्फुट अभिधा नहीं होती – सामान्य वहाँ प्रतीक का रूप लेकर 'ध्वनित' होता है। यही उसके आत्मचेतन होने का चिह्न भी होता है। भाषा भी प्रतीक ही है, पर उसका सर्व-साधारण बाह्य जगत् से भी एक सीधा सम्बन्ध होता है जो उसे एक स्तर पर नियत रूप दे देता है – यही अभिधा का बीज है (इसके कारण भाषाओं में गहरे वर्ण-शब्द-योजना-भेद होते हुए भी भाषायें अनुवाद-क्षम हो पाती हैं)। पर अर्थ – और उसकी सामान्यता – भाषा में भी अभिधा-सीमित नहीं होते। होते तो भाषा में व्यंजना संभव न होती। पर व्यंजना भाषा में सहज है। व्यंजना के बिना भाषा नहीं होती। पर व्यंजना का क्षेत्र भाषा-सीमित भी नहीं है। तभी कलायें संभव हैं। पर व्यंजना का क्षेत्र और भी व्यापक है। कर्म के अर्थ भी चेतना में व्यंजित ही होते हैं। मनुष्य की रहनी-करनी, इनमें जो अर्थमयता होती है, ये अर्थ व्यंजित ही होते हैं। और ये अर्थ सामान्य भी होते हैं – मेरे नहीं चेतना के होते हैं, जो सर्व-साधारण होती है। हां, अर्थ *प्रकट* आत्मचेतना की मध्यस्थता में ही होता है, जहाँ चेतना अपनी ही प्रवृत्ति का ग्रहण करती है, उसके प्रत्यक् या पराक्-भाव को जाँचती-परखती है।

यों तो सामान्य की बात हम आत्मचेतना के बिना, उससे निम्न भूमि पर भी कर सकते हैं। पशु में भी कर सकते हैं। पशु की प्रवृत्ति में सामान्य का बोध जागता दीखता है : भक्षक मछली जिन छोटी मछलियों को खाती है उनके एक- एक को एक-एक विशेष के रूप में नहीं देखती, भक्ष्य की जाति को सामान्य के रूप में ही 'जानती' है। पर, हाँ, आत्मचेतना के अभव के कारण उसे सामान्य का सामान्यता के बोध के साथ ग्रहण नहीं होता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इतना कहने के बाद भी फिर यहाँ वही टेक दुहराई जा सकती है : मेरी सामान्य-में-बसी आत्मचेतना भी आखिर होती व्यक्ति-सीमित ही है। आत्मचेतना कितनी ही व्यापक हो सकती हो, प्रज्ञा और प्रतिभा की वैश्वानर भूमा की ओर बढ़ सकती हो, पर व्यक्ति-सीमा का उल्लंघन नहीं करती। आत्म का बोध व्यक्ति में ही होता है। माना कि व्यक्ति होता हुआ मैं अन्य-सामान्य होता हूँ, ऐसे अर्थों की व्यंजना, उनकी एषणा पालता हूँ जो 'मेरे' नहीं 'सबके' होते हैं, मैं अन्य-सामान्य ही नहीं, अन्य सापेक्ष, अन्य-साकांक्ष भी होता हूं – अपने भीतर ही अन्य को पाता हूँ, अपने को अन्यों में पाता हूँ, अन्य के बिना मेरा 'अपनापन' ही नहीं बनता; इस अर्थ में भी मैं 'मध्यस्थ' कहला सकता हूँ। पर कुछ भी कहिये, रहता मैं अपने आप के घेर में ही हूँ, चाहे उस घेर में 'मैं' आत्म-विघटित ही सही, अन्य-सामान्य ही सही।

मेरे सामान्य-बोध को बहुत बड़प्पन भी नहीं देना चाहिये। मेरा सामान्य-बोध मेरी बड़ी विशेष रोजमर्रा की व्यावहारिक, व्यक्ति-आनुभविक चेतना से बिंधा रहता है, बिंधा ही नहीं, उसमें खोया-सा, डूबा-सा रहता है। अब चाहें तो मेरे इस विशेष को 'घटाकाश' जैसा कुछ कह लीजिये, जो सामान्य के भीतर ही एक विशेष घेर है, पर मेरे लिए तो यह आवरण, उपाधि नहीं, वास्तव है। सामान्य की भूमा को ओझल रखता है : मेरे सुख-दुख की नितान्त अपनी सँकरी गलियों के बीच बेगाना, वीराना सा, अनदिख, अनर्थक सा ही झाँकता है सामान्य का अन्तरिक्ष। अन्य मेरे लिए अन्य ही नहीं, पर होता है। मेरे 'अर्थ' का – मेरे प्रयोजनों का– स्वार्थ का, बाधक।

पर अर्थ के एक और आयाम को लीजिये। हम पीछे अर्थ-लोकों की चर्चा कर आये हैं – कला ही नहीं, गणित, विज्ञान, विचार ... ये भी मेरे प्रयोजन हैं, अर्थ-संधान के प्रयोजन - जिनमें मैं औरों के साथ प्रयोजक या साधक बनता हूँ – अन्यों के साथ मेरी इनमें *भागीदारी* होती है। व्यक्ति-अहं का कंचुक भी यहाँ साक्षात् ही शिथिल हो जाता है। खुलता है कि चेतना का मुझ से परे एक अन्तरिक्ष है जो मुझ में भी घर करता है। मैं वहाँ अन्य-सामान्य हो कर विचरण करता हूँ। कहने को मैं कह सकता हूँ कि वहाँ भी मेरे अपनेपन की लक्ष्मण-रेखा नहीं मिटती। मेरी अपनी दैनन्दिन व्यक्ति-चेतना इन अर्थ-लोकों में भी औरों को मुझसे पराया रखती है। अर्थ-लोकों में कौशल हासिल कर मैं अपना ही स्वार्थ साधता रहता हूँ। अर्थ-साधना में अगर सचमुच कुछ पुरुषार्थ का बोध करता हूँ तो अन्यों से स्पर्धाशील हो जाता हूँ। इन बातों से कुछ ऊपर उठ सकूं तो मैं अन्यों का खण्डन कर अपनी बात मनवाने में लिप्त हो जाता हूं; प्रतिष्ठित होना चाहता हूँ या अपनी चलाना चाहता हूं...। पर ऐसा कहना एकांगी है। ऐसा कहते हुए भी मैं मध्यस्थ ही होता हूँ – अपनी अहंता को अपने से अलग रख पाता मध्यस्थ। इस मध्यस्थता में मैं देख सकता हूँ कि अर्थ-लोकों को साधती निरहं-एषणा का बीज मेरे भीतर सदा जागता है। उधर बढ़ूं तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

विराट् का अंकुर उमग सकता है। यह इसलिये कि अर्थ-लोक आत्मचेतना की प्रत्यङ्मुखता में निहित होते हैं, मेरे उस आत्म के लिये जागते हैं जो मुझे सामान्य में स्थित करता है। मुझे अपने से परे ले जा सकता है ।

अर्थ-लोक आत्मचेतना को मध्यस्थ बना कर चेतना के पराक् और प्रत्यक् विस्तार के बीच उभरते हैं। यहीं स्वार्थ के साथ परार्थ भी उभरता है – यहीं विवेक घर करता है, मेरे और अन्य के बीच न्याय-बोध जगाता है - मेरे कर्तृत्व-बोध को एक मूलगत अर्थ में 'मध्यस्थ' बना देता है। हां, यह सच है कि आत्मचेतना की मध्यस्थता में एक द्विमुखी द्विस्वभावता बनी रहती है जो मुझे प्रत्यक् के साथ ही पराक् की ओर भी खींचती रहती है – और कहना न होगा पराक् का पलड़ा ही भारी रहता है (तभी न्याय की आवश्यकता पड़ती है), पर प्रत्यक् का संकेत सतत जागता रहता है।

आत्मचेतना की यह पराक्-प्रत्यक् के बीच मध्यस्थता मनुष्य के मनुष्य होने का लक्षण भी कहला सकती है। यहाँ, कुछ आगे ही मैं मध्यस्थता के इस भाव को गंभीर व्यंजना के साथ सामने-लाते सुकरात के एक संवाद की चर्चा करूंगा।

हमारे आत्म में उजागर, मध्यस्थता-को घर-देता आत्मविच्छेद एक गहन प्रश्न जगाता है : मैं क्या हूँ? या यों कहिये, मैं कौन हूँ? आत्मचेतना के लिए नितान्त आत्मीय प्रश्न है। मनुष्य ही उठाता है। पुराना प्रश्न है (सुकरात का भी प्रश्न था) – हालांकि प्रश्न सदा नवीन है। आमतौर पर जिज्ञासा यह होती है कि दूसरों के बीच मेरा परिचय क्या है, मेरा स्थान, मेरा ओहदा, पद क्या है ? औकात क्या है ? पर इससे हट कर यह प्रश्न औरों से अलग एक विलक्षण व्यक्तित्व के संधान की ओर भी ले जा सकता है, जैसा कि आज अकसर होता है – मैं पूछता हूं, मैं दूसरों से *अलग* 'कौन' हूँ? मेरी अन्यों से भिन्न व्यक्तिगत सत्ता क्या है? पर प्रश्न कहीं भी ले जाये, मैं कौन हूँ? प्रश्न करते हुए मैं आत्मचेतना के सामान्य में, सामान्य की निर्वैयक्तिकता में होता हूँ – प्रश्न मेरा ही नहीं, किसी का भी हो सकता है। प्रश्न के पीछे जो खोज है, उसका स्वरूप ही मुझे व्यक्ति-आत्म के परे आत्म की प्रत्यक् भूमा का निमन्त्रण देता है, उसकी ओर ले जा सकता है। आत्म की खोज अगर यश, मान, ऐश्वर्य ... इन लोकैषणाओं की ओर से कुछ भी विरत हो, और मैं अपनी इच्छा, आकांक्षाओं, प्रवणताओं ... में कौन सी 'मेरी' है, इस व्यक्ति-संधान से हटूं तो चेतना की निरहं गतियों में अपने को पाता हूँ। वहाँ प्रश्न ही 'मैं कौन हूँ' से मानो रूपान्तरित हो कर 'मैं क्या हूँ' का रूप ले लेता है : मैं जो दिखता हूँ, या दिख सकता हूँ, उसके परे - मेरे मनुष्य होने से भी परे, जहां मेरा प्रत्यगात्म नेपथ्य-चारी रहता है, उस ओर मुझे ले जाता है, मेरी अस्मिता के घेर में नहीं रहता। बात स्वत्व की जिज्ञासा से उठ कर तत्त्व की जिज्ञासा हो जाती है – आत्मजिज्ञासा व्यापक सत्य और श्रेय जिज्ञासा का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आधार बन जाती है। 'आत्मानं विद्धि' का उपदेश इसी बृहत् अर्थ में दिया गया जान पड़ता है। पर जिज्ञासा की धरती आत्मचेतना की उस मध्यस्थता में ही होती है जहाँ से 'मैं कौन हूँ' का प्रश्न अवर-ऊर्ध्व दोनों दिशायें ले सकता है – प्रत्यक्-दिशा कम लेता है, पर प्रत्यक् की भूमा का अंतरिक्ष ही उस धरती को बनाता है जहां, मैं कौन हूँ?, यह प्रश्न उठता है। इस जिज्ञासा में मेरा 'अस्मि' अन्वेषण का एक केन्द्र होता है, और मेरी आत्मचेतना आलोकन-आलोचन करती मध्यस्थ - अन्य-साधारण मध्यस्थ। जिज्ञासा ऐसी सामान्य चेतना में होती है जो मेरी अहं-संकीर्ण विशेषता से स्वभावतः ही मुक्त होती है – तभी जिज्ञासा का उत्तर चेतना की अपनी संपदा की तरह उजागर हो पाता है : सब की संपदा के रूप में।

यह भी देखिये कि 'मैं कौन हूँ?', यह प्रश्न 'मैं क्या करूँ?' से भी भीतर का संबंध रखता है। 'मैं कौन हूँ' में 'मैं कौन बनूं' की ही नहीं, 'मुझे क्या होना चाहिये' की भी स्पष्ट व्यंजना है। मैं कौन हूं, यह प्रश्न उठता ही इसलिए है कि मुझमें कहीं यह बोध ही नहीं, यह ललक जागती रहती है कि मैं वह नहीं हूँ जो मुझे होना चाहिये (जो मैं *वास्तव* में हूं)– यह अपने तत्त्व को *जानने* की ही नहीं, उसे *पाने* की भी चाह है। प्रश्न के पीछे मुझमें यह दृष्टि कौंधती है कि मैं किसी सिद्ध-प्रदत्त रूप में हूँ ही नहीं। मैं 'साध्य' हूँ। सच पूछें तो अपने को साधता हुआ ही मैं पूछता हूँ कि 'मैं कौन हूँ?' और यह प्रश्न करता हुआ मैं यह मानकर चलता हूँ कि मेरा होना एक यात्रा है। इसे मैं दिशा दे सकता हूँ। प्रश्न करता हूँ तो अपने को स्वतन्त्र पा कर करता हूँ। अपने को समर्थ भी पाता हूँ : थोड़ा ही सही, पर अपनी रूढ़, चली आती गतियों को अन्यथा करने में समर्थ। प्रश्न को कर्म के बीज के रूप में भी देखा जा सकता है क्योंकि मेरी गतियों का विस्तार भीतर के साथ बाहर भी होता है – अन्यों के प्रति, जगत् के प्रति। और यों देखें तो यह भी देखा जा सकता है कि 'मैं क्या हूँ', यह प्रश्न '*मुझे* क्या होना चाहिये?' से ही अविच्छेद्य नहीं रहता, '*हमें* क्या होना चाहिये?' से भी अलग नहीं किया जा सकता।

यह मनुष्य का प्रश्न है जो स्पष्ट ही मनुष्य मात्र को एक औचित्य की यात्रा के रूप में व्यंजित करता है। स्पष्ट ही इसका सम्बन्ध जानने से ही नहीं, करने से भी है – ज्ञान से ही नहीं, कर्म से है। करने और जानने को मानो यहाँ अलग किया ही नहीं जा सकता। मैं अपने आप को जिस रूप में सत्य जानूंगा, उसी से व्यंजित दिशा में अपने को साधूंगा। पर मैं अपने आप को जान भी अपनी यात्रा के भीतर से ही सकता हूँ – वह भी इसलिए कि मैं आत्मचेतन मध्यस्थ हूँ, स्वतन्त्र हूँ, समर्थ हूँ, पराक्-प्रत्यक् की भिन्न दिशायें ले सकता हूँ। 'मैं क्या हूँ' या 'हम क्या हैं' ये प्रश्न कर्म के बीच ही जागते हैं, और इनसे उभरता विमर्श भी कर्म के बीच से ही उभरता है – करते करते ही रूप लेता है – जैसे नर्तक का नाच, जहाँ साफ ही ज्ञातृत्व और कर्तृत्व परस्पर-विद्ध रहते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

यों भी देखिये कि 'मैं क्या हूँ' यह प्रश्न अगर 'हम क्या हैं' इस प्रश्न का साकांक्ष है – क्योंकि मैं ही किसी निहित अर्थ में अन्य का साकांक्ष हूँ, उसे अपने से अनन्य पाता हूँ – तो 'मैं क्या हूँ' का कोई भी उत्तर मेरे अकेले के लिए नहीं हो सकता। वह 'हम क्या हैं' की भी स्वरूप-मीमांसा होगी। 'मैं' 'हम' का प्रतीक होगा। कोई भी खरा, जीवन में उतरा, उत्तर एक जीवन-दृष्टि होगा, मनुष्य-मात्र के 'साध्य' का संकेत देगा। दृष्टियाँ अनेक हो सकती हैं, पर इनका विमर्श, इनकी प्रेरणा मनुष्य की उस मध्यस्थता में उजागर होती है जो पराक् और प्रत्यक् के बीच दोलायमान है।

सुकरात के जिस संवाद की बात करना चाहता हूं उसमें सुकरात को हम बड़े विमर्श-जागरूक बोध के साथ से इसी दोला पर आरूढ़ पाते हैं।

सुकरात के लिए 'आत्मानं विद्धि' यह वाक्य जीवन-मन्त्र की तरह जागता था। वे इसे देव-वाणी भी मानते थे। यह वाक्य डेल्फ़ी के प्रसिद्ध देवालय में एक अभिलेख के रूप में खुदा हुआ था। अभिलेख मन्दिर के दर्शनार्थियों की ओर इस तरह अभिमुख था मानो देवता स्वयं अभ्यागत का 'आत्मानं विद्धि' कहकर अभिवादन कर रहे हों। सुकरात को यह वाक्य जीवन भर अपनी सीमित् अहं-अस्मिता से परे द्योतित महत् आत्म को जानने की प्रेरणा देता रहा। यही उनके लिए सत्य और श्रेयस् को भी जानने का पंथ था।

सुकरात का एक संवाद है, 'फाएड्रुस', जहां सुकरात को हम आत्मा की पराक्-प्रत्यक् द्विस्वभावता के बीच जैसे प्रत्यक्ष खड़ा पाते हैं। एक ओर है अस्मिता का स्वार्थ-उन्मुख व्यवहार-आत्म, दूसरी ओर प्रज्ञा के अतिचेतन की ओर झुकता प्रातिभ आत्म। सुकरात दोनों के बीच, दोनों ओर पांव रखे दिखते हैं। दोलायमान। पर देखते-परखते विवेकी मध्यस्थ।

संवाद का विषय है, प्रेम। यह विषय ही चेतना के भूमि-भेदों की ओर इंगित करता है - क्योंकि स्पष्ट ही प्रेम में प्रवृत्ति के ऊँचे-नीचे सोपान उभरते हैं। प्रेम काम-वासना का आवेग और मोह हो सकता है, जहां प्रेम करने वाला अपना आपा (अपनी 'आत्मस्थ' मनुष्यता) ही खो दे सकता है। पर वह आपे में रहे तो एक 'सयानापन' दिखा सकता है, जिससे उसका और उसके प्रेम-पात्र दोनों का 'काम' भी सधे और हित भी। पर प्रेम का *वास्तव* रूप कुछ और होता है। सुकरात उसे एक *दिव्य* उन्माद कहते हैं - कुछ वैसा ही जैसा गोपियों के प्रेम में था।

संवाद के आरंभ में सुकरात प्रेम का एक बड़ा 'सयाना'-सा लक्षण करते हैं। वे कहते हैं कि रति (या काम-वासना) के रूप में प्रेम मनुष्य में स्वभाव-सिद्ध होता है, उसे सीखना नहीं पड़ता। पर साथ ही मनुष्य में एक शिक्षित गुण भी होता है – मति, जो उसे श्रेयस् की ओर ले जाता है। रति और मति में सामंजस्य बने तो मनुष्य में संयम जागता है, वह अंध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काम के स्वैर, निर्बंध, अतिचार में बिखर-बिफर नहीं जाता। स्वार्थ और परार्थ में संतुलन रखता है।

सुकरात ऐसे सयाने-संतुलित प्रेम के समर्थन से बात की शुरुआत करते हैं। पर इस सयाने, 'व्यावहारिक', प्रेम से सुकरात संतुष्ट नहीं होते - उनकी प्रत्यक्-वृत्ति उन्हें और ऊपर ले जाना चाहती है। उनके मन में यह बात जागती है कि प्रेम तो देवता है, अलौकिक है। उसमें स्वार्थ का कलुष या उसके 'सयानेपन' की भी क्षुद्रता नहीं हो सकती। वे अब प्रेम में एक दिव्य, अपार्थिव भाव, एक लोकोत्तर 'उन्माद' की प्रेरणा देखते हैं। सत्य की दृष्टि देखते है। कहते हैं, प्रेम में आत्मा अपने खोये हुए पंख पा लेती है, जो पंख कि आत्मा सत्य-लोक से भ्रष्ट हो कर लौकिक स्वार्थ के क्लेश-कलुष के कारण खो देती है। सुकरात के लिए मनुष्य-भाव भाव्य है – मनुष्य होने की स्थिति एक 'परीक्षा' या साधना की स्थिति है। प्रेम साध्य की ओर बढ़ने का एक अलौकिक साधन। यही बात अपने यहां भक्ति के बारे में कही जाती है, जो प्रेम का ही दिव्य-रूप भी है।

सुकरात एक और बात कहते हैं जो हमारी इस चर्चा में लक्षणीय है (और जो सुकरात-प्लेटो के दर्शन के बारे में प्रसिद्ध भी है) – यह कि आत्मा अपने दिव्य-उन्माद में जिस अतिलौकिक सत्य का दर्शन करने में समर्थ होती है, वह सत्य सामान्यों में झलकता है, इन्द्रिय के 'अनेक' और विशेष ग्रहणों से उठकर बुद्धि-प्रज्ञा के 'एक'-ग्रहण में पर्यवसित होता है। हमारी बुद्धि में जागते सामान्य प्रत्यय उन तत्त्वों की स्मृति में बसे होते हैं जो आत्मा ने अपने जगत्-प्रवास के पूर्व सत्य की क्रोड़ में देखे थे।

'सामान्य' को यों सत्य या परमार्थ के समीपतर देखें तो दार्शनिक के पंख सबसे सक्षम ठहरेंगे। वही सबसे बड़ा 'उन्मादी' होगा – यही सुकरात कहते भी हैं। सामान्य का बोध ही हमें पार्थिव-लोक के धुंध में लोकोत्तर सत्य की दिशा दिखाता है – और दार्शनिक का सामान्य से सम्बन्ध घनिष्ठतम है। पर एक बात यहाँ सोचने की है। उन्माद दार्शनिक में ही नहीं, प्रेमी में भी जागता है – प्रेम के उन्माद और 'सयानेपन' का भेद यहाँ वही है जो सूफ़ियों के 'अक्ल' और 'इश्क' में है। 'उन्माद' यहाँ ईश्वर के प्रेम-दीवाने बाउल के उन्माद की भी याद दिलाता है ('बाउल' शब्द ही 'वातुल' से निकला है, जिसका अर्थ है, 'उन्मत्त')। प्रेम यहां काम से, और किसी लौकिक सयानेपन से ऊपर उठ कर भक्ति-उन्मुख हो जाता है। पर दिव्य-सत्य का सम्बन्ध अगर 'सामान्य' से है तो प्रेमी या भक्त-बाउल में सत्य कैसे प्रकट होता है – ये तो दार्शनिक की तरह सामान्य-प्रेमी नहीं होते! दार्शनिक को सामान्यों के सोपान चढ़ते हुए परम सामान्य की ओर बढ़ता देखा जा सकता है – पर प्रेमी का तो यह मार्ग नहीं है। तो, बात केवल सामान्यों की नहीं है। सुकरात की बात का सार निरी लौकिकता से उठकर अलौकिक भूमा की ओर अग्रसर होने में है : पराक् से मुड़कर प्रत्यक् की यात्रा में। सामान्य भी चेतना की इसी यात्रा में उभरते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फायेद्रुस में सुकरात को हम आत्मचेतना के उस मध्य-मेरु पर पाते हैं, जहां आत्म के दो अलग-जाते छोर उभरते हैं। एक छोर मेरे 'विशेष' में, इच्छा-स्वार्थ-वासना में मुझे उतारता है, और दूसरा मुझसे परे चेतना के स्वच्छ-शुभ्र आलोक की ओर ले जाता है, जहाँ चेतना के अपने स्वातन्त्र्य में उभरता श्रेयस् का मार्ग है। या यों कहिये कि एक ओर पराक्-दृक् व्यवहार-आत्म है, दूसरी ओर प्रत्यक्-आत्म। फाएद्रुस में जीवन और जीवन के साध्य के प्रति दो नितान्त भिन्न दृष्टियों के बीच का मध्यस्थ-भाव बड़े जीवन्त, विचारशील स्पंद के साथ उभरता है – पर यह भी उभर आता है कि बात विचार के विकल्प भर की नहीं है हमारे समूचे 'होने' की है। विचार के ही भीतर से यह भी निष्पन्न होता है – स्पष्ट व्यंजित होता है - कि बात युक्ति-तर्क मात्र की भी नहीं है : युक्तियाँ तो सुकरात सयानेपन और पागलपन दोनों के पक्ष में बड़े सतर्क-भाव से सजा कर देते हैं। फाएद्रुस में ही आगे चलकर वे लक्षण-परीक्षण, ऊह-अपोह के द्वैध के प्रति जागरूकता को सत्य-संधान का आदर्श पंथ भी बताते हैं। पर साध्य का जो लौकिक-अलौकिक द्वैध, और अलौकिक के प्रति सुकरात की जो आकूति संवाद का प्राण है, वह विचार मात्र का द्वैध नहीं है, न सुकरात की लोकोत्तर आत्म और सत्य-दृष्टि केवल विचार के प्रत्यय या विकल्प-द्वैध की बात है। बात पूरी चेतना की निष्ठता की है, सम्पूर्ण प्रवृत्ति की ही द्विस्वभावता की बात है। अनुभव ही कहता है कि प्रेम की द्विस्वभावता युक्ति की द्विस्वभावता नहीं है, इससे कहीं गहरी है। 'आत्मानं विद्धि' का भी इसी चेतना-व्यापी द्विस्वभावता के साथ सम्बन्ध है। यह उपदेश चेतना के भीतर से ही चेतना के प्रति आह्वान है - चेतना के ही द्वैध का संकेत है।

'आत्मानं विद्धि', यह वाक्य व्यक्ति को सम्बोधित लग सकता है, पर, साफ ही, सम्बोधित मनुष्य को है। कहा जा सकता है कि मनुष्य का अर्थ यहाँ मनुष्य-सामान्य नहीं हो सकता – ऐसे सामान्य को 'उपदेश' के क्या मानी? मनुष्य का अर्थ 'सब मनुष्य' ही हो सकता है, जहाँ 'सब' एक एक का सम्पूर्ण-व्यापी समूह है। ऐसे समूह को किसी एक मनुष्य की तरह देश-काल में सीमित तो नहीं मान सकते, पर एक एक फिर भी अलग ही रहता है, व्यक्ति ही रहता है, किसी सामान्य में व्यक्ति का विलय नहीं हो जाता। बात ठीक है, पर यों भी देखिये कि 'मनुष्यता' नाम का सामान्य भी तो एक एक में रहता है (चाहे उसकी अलग सत्ता भी हो) और इससे एक एक का व्यक्तिभाव और पुष्ट होता भी देखा जा सकता है, क्योंकि मनुष्यता अगर वास्तव में कहीं रहती है, निरा विकल्प या उद्ग्रहण नहीं है, तो एक एक मनुष्य-व्यक्ति को उसका व्यक्तित्व देती हुई ही रह सकती है।

पर फिर भी मनुष्यता के अपने सामान्य गुण-धर्म की बात की जा सकती है। मनुष्य का - व्यक्ति- रूपेण मनुष्य का ही सही - उसका मनुष्य-इतर से कोई भी व्यावर्तक लक्षण उभारें, जैसे आत्मचेतना, तो इसे मनुष्य का जाति-धर्म (सामान्य-धर्म) कहे बिना इसे मनुष्य का - व्यक्ति-मनुष्य का भी - लक्षण कैसे कहंगे? आत्मचेतना को हम मनुष्य के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाति-धर्म के रूप में ही देखते हैं - यों कि इसे मनुष्य का सामान्य स्वभाव समझते हैं। मनुष्य, मनुष्य, मनुष्य ऐसे किसी सादृश्य-दर्शन से हम इस स्वभाव पर नहीं पहुँचते – क्योंकि यह स्वभाव हमारी *अपेक्षा* भी होता है (इसे पा कर ही हम मनुष्य को मनुष्य-रूपेण पाते हैं)। फिर यह सिद्ध ही नहीं साध्य भी है। सब मनुष्य मिलकर सब के लिये इसे साध्य बनाते भी हैं – मनुष्य-समष्टि का यह स्वभाव होने के साथ ही एक आधारभूत आदर्श भी है। ऐसा नहीं है कि हम एक एक मनुष्य की पहले पहचान करते हैं, और फिर अन्वय-व्यतिरेक से आत्मचेतना को मनुष्य का व्यावर्तक धर्म ठहराते हैं। बल्कि हम मनुष्यों में होते हुए ही इसे मनुष्य-व्याप्त पाते हैं – या यों कहिये कि इसे मनुष्य-व्याप्त पाते हुए ही हम मनुष्यों में होते हैं : इसे भाव रूप में ही नहीं, भाव्य रूप में भी पाते हैं। इसकी भाव्यता हम साधते भी हैं – समष्टि के भीतर रहते हुए साधते हैं, अपने में ही नहीं, समष्टि में भी साधते हैं। यही मनुष्य की पशु की सिद्ध-प्रदत्त *प्रकृति* से भिन्न *संस्कृति* की सत्ता का आधार है।

सुकरात ने दर्शन, कला, संगीत और प्रेम, इन चार 'उन्मादों' की बात की है। इन्हें हम चेतना के प्रत्यक्-व्यापार भी कह सकते हैं, जहाँ हम उपादेयता के 'सयानेपन' से ऊपर उठ जाते हैं। दर्शन, कला आदि को हम अर्थ-लोक का क्षेत्र कह आये हैं। यह भी कह आये हैं कि इनमें एक़ निरहं अन्य-सामान्यता होती है। ये व्यक्ति के नहीं, *व्यक्तियों* के क्षेत्र हैं। ये एक में नहीं, स्वभाव से ही अनेक में जागते हैं। जैसे भाषा जागती है। वैसे ही अर्थ-लोक भी समाज में जागते हैं – चाहे आत्मचेतन और सृजनशील व्यक्तियों में अधिक सजग होते हों। पर व्यक्ति यहाँ अन्य-सापेक्ष ही नहीं, अन्य-साकांक्ष होता है।

अर्थ-लोकों की निर्मिति में, उनकी साधना-संधान में, हम व्यक्ति-समूहों के अनेक में एकत्व देख सकते हैं – अर्थ-लोकों के माध्यम से परस्पर-भाव में बँधे व्यक्तियों का गुंफ उभरता है। ऐसे गुंफ या व्यूह, सम्पूर्ण मनुष्य-समाज या समूह के भीतर ही पनपते हैं, फिर भी इनकी अलग पहचान होती है। इनमें व्यक्ति से अलग एक व्यूहगत आत्मबोध जागता है जो अपने अवलोकन-आलोचन में 'आत्म-चेतना' तुल्य होता है। यह व्यूह-चेतना व्यक्तियों के बीच सेतु का भी काम करती है – मानो व्यक्तियों की मध्यस्थता के बीच मध्यस्थ होती अपनी अलग सत्ता रखती है। व्यूह की यह मध्यस्थता - उसकी सत्ता - देशकाल के परे होती है – क्योंकि निर्वैयक्तिक होती है, सामान्य होती है। वह व्यक्तियों के बीच अन्तःसूत्र बनती है, और वर्तमान व्यक्तियों को ही नहीं (ऐसे ही व्यक्तियों को ही नहीं जिनके बीच *आज* संवाद संभव है), बल्कि विगत और अनागत के व्यक्तियों को भी अपने गुंफ में पिरोती है।

तभी *परंपरा* संभव होती है। आत्मचेतना की तरह ही परंपरा भी मनुष्य का लक्षण है – परंपरा भाषा-चेतना और आत्मचेतना को ऊह्य रखती है, पर इनमें अपचित नहीं होती। परंपराओं को हम आत्मचेतना की अनेक में व्याप्ति कहें तो भी दोष न होगा। मनुष्य-समाज

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को भी हम परंपराओं का पसारा कह सकते हैं। परम्परा में हम वर्तमान में स्थित होते हुए भी वर्तमान का अतिक्रमण कर पाते हैं – विगत और आगत के बीच भी 'मध्यस्थ' होते हैं – सेतु हाते हैं।

यह बात मुझे ही नहीं, मेरे साथ के अधुना-प्रस्तुत अन्यों को भी – या यों कहें कि मनुष्य-सामान्य को ही – नितान्त 'अभी' के बंधन से - निरे हानोपादान या प्रवृत्ति-साफल्य की सँकरी चारदीवारी से - निकाल कर पुरुषार्थ के पथ पर ला खड़ा करती है। यहाँ चेतना का अपना स्वातन्त्र्य प्रवृत्त होता दीखता है जो देश-काल-पात्र से ऊपर-उठा प्रत्यक्-भाव है। देश-काल-पात्र को निमित्त बनाता है। स्वातन्त्र्य और सृजन में स्फुट होता है। तभी परंपरा का स्वभाव ही है कि उन्मेष की माँग करे, नहीं तो वह परंपरा ही नहीं रहती। एक लीक सी प्रवृत्ति भर रह जाती है।

परंपरा में हम अपने को अन्यों-के-साथ आत्मचेतन देख भी सकते हैं। उन क्षेत्रों में जिन्हें हम स्वतन्त्र अर्थलोकों का क्षेत्र कह आये हैं – विचार, गणित, साहित्य, कला, विज्ञान ... (जिन्हें पुरुषार्थ के क्षेत्र भी कह सकते हैं) इनमें यह बात विशेष अनुभूत होती है। व्यक्ति का स्वातन्त्र्य यहाँ मनुष्य मात्र के स्वातन्त्र्य का सहभागी और सहगामी होता है; निर्वैयक्तिकता के सामान्य में जागता है, उसे जगाता है। बल्कि, बात को यों भी रख सकते हैं कि परंपरा की सामान्य-चेतना में निहित स्वातन्त्र्य अगर व्यक्ति की चेतना में न जाग पाये तो व्यक्ति की आत्मचेतना अपने को एक गतानुगतिकता में ही निमज्जित पा सकती है। उसका अपनापन एक चले-आते प्रवाह के ऊपर सिर उठाने में असमर्थ होगा। यह ठीक है कि परंपरा में एक अनुवृत्ति-प्रवणता भी होती है जो प्रवाह ही साधती चलती है - रूढ़ि हो जाती है परंपरा। या यों कहें कि यहाँ भी हम चेतना की प्रत्यक्-पराक् द्विस्वभावता देख सकते हैं, जहाँ निरे 'बने रहने' की पराक् वृत्ति दूर तक हावी रहती है। शिक्षा का एक बड़ा पक्ष यह भी है ही - शिक्षा स्वभाव से ही अनुवृत्ति पर जोर देती है। पर यह पराक्-वृत्ति प्रत्यक् की प्रतिभा से अछूती नहीं रहती। और फिर, परंपरा व्यक्ति-सीमित नहीं है तो 'देही' भी नहीं है; देही की तरह मरणशील भी नहीं है। परंपराओं का अंत तो होता है, *मरण* नहीं होता। परंपरायें प्रतीकों में रहती हैं, जो सामान्य-प्राण हैं। तभी परंपराओं के अंत के बाद भी इनका नवोन्मेष संभव होता है। इनमें निहित अर्थ-संधान की फिर से प्राण-प्रतिष्ठा हो सकती है। किसी परंपरा को नये सिरे से स्वातन्त्र्य का प्रत्यक्-स्पर्श मिले तो ये पुरुषार्थ की उपेयता से फिर गर्भित हो जाती हैं – नये सृजन के द्वार खोल दे सकती हैं। योरोप में ग्रीस की पुरानी विलुप्त प्राय गणित, विचार, कला की परंपराओं के साथ यही हुआ था।

परंपरा की समझ और सृजन दोनों ही अन्यों की ऐसी मध्यस्थता में आत्मसात् किये जाते हैं जहाँ व्यक्ति के रूप में मैं स्पष्ट ही अन्य-सामान्य होता हूँ। परंपरा में पनपता हुआ ही मैं अपनी चेतना के उस 'मध्यस्थ' आयाम का अनुभव करता हूँ जहाँ मैं अपनी प्रवृत्ति को

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सुकरात की तरह पराक् और प्रत्यक् के बीच द्विस्वभाव, द्विमुखी पाता हूँ। यह भी पाता हूँ कि पराक् का आकर्षण दुर्दम्य होता है। और 'उन्माद' दुर्लभ ही नहीं अकसर पहुँच के बाहर। इसे लोकैषणा के साथ लोक-सुलभ 'सयानेपन' का सहज आकर्षण भी कह सकते हैं जो स्वार्थ को ही नहीं, बुद्धि को भी 'सुथरा' जान पड़ता है। इसके मर्म में प्रत्यक् के अनपहचाने 'उन्माद' से भय भी है – अपने चौकन्ने 'आपे' को खो देने का आतंक। मनुष्य की सभ्य-शिष्ट कहलाती परंपरायें व्यवहार में ऐसे ही सयानेपन को साधती दिखती हैं - इसी को श्रेय समझती हैं, जहां प्रेय का भी हान नहीं होता। मैं अपना 'आपा' - व्यवहार-योग्य आत्मस्थ-भाव, श्रेय-प्रेय की इसी युगल धरती पर साधता हूं - इस सयानेपन को न्याय्य, धर्म्य मानते हुए। यह पशु-वृत्ति की तरह प्रकृत नहीं संस्कृत होता है। पर चूंकि मनुष्य ही संस्कृत होता है, इस सयानेपन को हम चेतना का मनुष्य-सिद्ध पराक्-भाव भी कह सकते हैं - व्यवहार-परंपरायें इसी भाव को रूढ़-स्थिर बनाये रखने में व्यस्त रहती हैं। पर यह मेरी आत्मचेतन मध्यस्थता के बिना नहीं बनता, जहाँ पराक् के भीतर ही प्रत्यक् की आहट सदा जागती रहती है - परंपरा की शिक्षा-संस्कृति-सिद्ध 'आप्त' रूढ़ियों की धरती भी प्रतिभा के दिगन्त के साथ ही उभरती है। मैं आत्मचेतन होता हूँ तो अपने को साध्य ही पाता हूँ, सिद्ध नहीं। परंपराओं के रूढ़-से-लगते प्रवाह में भी एक अहेतुक, अनुपादेय उपेयता का स्पंद होता है जिसका मैं सहभागी होता हूँ, या यों कहिये कि परंपरा में एक 'आप्तव्य' का बोध निरंतर जागता है, जो किसी सयानेपन की सीमा में नहीं समाता। 'आप्त' (स्वीकृत रूढ़ि) भी वहाँ आप्तव्य के रूप में ही जागती है। तभी शिक्षा-संस्कृति को अनुवृत्ति-मात्र नहीं, *जागरूक* अनुवृत्ति की आवश्यकता होती है। 'जागरूक अनुवृत्ति' का अर्थ ही है, 'आप्त' की 'आत्मा' को – उसके मर्म को – बनाये रखना। मर्म सदा 'आप्तव्य' ही रहता है। व्युत्पत्ति की, सही समझ की, सही पकड़ की माँग करता है – और यों प्रतिभा की ही माँग करता है। प्रतिभा के लिए पथ भी प्रशस्त कर देता है। उसके द्वार को तो अपावृत रखता ही है। नया उसमें अंतःस्फुरित रहता है। अगर आप्तव्यता का ही बोध न रहे तो परंपरा भी नहीं रहती। पर वह रहती है तो आप्तव्य क्या है? यह प्रश्न उसे चरिष्णु भी रखता है।

आज के विज्ञान की परंपरा को लीजिये। विज्ञान में व्यक्ति का स्थान तो प्रकट ही व्यक्ति-व्यूह लेने लगे हैं – कोई संधान हो या समस्या-समाधान, वैज्ञानिकों की 'टीमों' के सुपुर्द होता है। यों व्यक्तियों के व्यूह स्पष्ट ही व्यक्तियों के स्थानापन्न होते दिखते हैं। इससे विज्ञान में परंपरा का महत्त्व भी और प्रकट हो कर आगे आता है – कई पीढ़ियाँ मिलकर एक टीम बनाती दिख सकती हैं, चाहे पिछलों के काम का अगले खण्डन ही क्यों न करते हों। बल्कि खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया तो आत्मचेतना के ऊहापोह की तरह परंपरा की निशानी ही है। उसे चरिष्णु रखती है। भारत के लम्बे विचार-प्रवाह में भी हम खण्डन-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मण्डन की परंपरायें देख सकते हैं। यहाँ दर्शन-सम्प्रदायों के सदियों तक चलते संवादों-विवादों में व्यक्ति अक्सर परंपरा के प्रतिभू ही दिखते हैं। परंपरा ही अवगाहन-आलोचन का एक धरातल बनाती है, जहाँ व्यक्ति की गरिमा है भी तो परंपरा के भीतर। परंपरा यहाँ स्पष्ट ही व्यक्तियों के मध्य, पर व्यक्तियों से अलग एक अपनी 'आत्म-चेतन' गति उकेरती है।

कहा जा सकता है कि अर्थ-लोकों के क्षेत्र ही ऐसे हैं कि उनमें हमारी अस्मिता ही व्यापक हो जाती है, हमसे मानो अलग सी हो जाती है। वहाँ विमर्श, प्रतिभा, ये प्रधान होते हैं जो व्यक्ति के व्यक्ति-भाव से अवच्छिन्न नहीं होते। वहाँ हमारी अस्मिता विमर्श का एक केन्द्र भर रह जाती है जो अन्य ऐसे ही केन्द्रों के बीच ही रूप लेती है। लेकिन वहां भी अस्मिता जाती नहीं है। सामान्य, निर्वैयक्तिक क्षेत्र में भी उसका 'स्व'-बोध, उसकी अहंमन्यता बनी रहती है – अक्सर वहां अपनेपन का बोध और तीखा ही हो जाता है। अपने आप को अनन्य मानने लग जाती है अस्मिता : *मेरा* विचार है, *मेरी* प्रतिभा है, *दूसरे* की नहीं। तभी आज विमर्श-जन्य 'सम्पत्ति' को कानून के घेर में लाने का भी चलन है। और आज ही क्यों, पहले भी विचारक, कलाकार, गायक, नर्तक, ये चेतना के सामान्य की उड़ानों को अपनी विशेष उपलब्धि ही कहते रहे हैं। लोक-व्यवहार में उसका लाभ उठाते ही रहे हैं। यह सच है कि हम किसी अर्थ-लोक में होते हैं तो हमारा 'स्व' अपने राग-द्वेष, स्वार्थ, होनोपादान, लोकैषणा, कुछ देर के लिए बिसार देता है, पर जल्दी ही हम अपने उसी सिद्ध-से व्यावहारिक 'स्व' में लौट आते हैं। अपनी उसी देह-घिरी दैनन्दिन व्यवहार-चेतना में, जहाँ हम औरों को 'पर' जानते हुए अपने-आप को अपने संकीर्ण आपे में बंद पाते हैं – अपने विशेष व्यक्तिभाव में, अपने विशेष स्वार्थ के साथ। यों भी अर्थ-लोकों की वैश्वानर उड़ान कुछ ही लोग भरते हैं। और जो भरते भी हैं वे भी थक कर जिजीविषा के उसी देह- मन में आ रहते हैं जो व्यवहार की भूमि पर हमें अन्य देहियों से अलग करता है। वहां कोई साध्य होता है तो वही 'सयानापन', जो निःस्वार्थ और परार्थ में भी स्वार्थ ढूंढ़ता है।

एक अर्थ में तो बात ठीक ही है। अनुभव में जागती ही है। यह भी है ही कि अर्थ-लोकों का आकर्षण कम होता है – अक्सर उनसे मिलते 'लाभ' के लिए ही होता है। उनमें निहित किसी भूमा या पुरुषार्थ के लिए नहीं। तभी कुछ लोगों को आज के जीते-जागतों का नहीं, पुराने मृतकों का साथ ढूँढ़ना पड़ता है।

पर बात पूरी तरह ठीक नहीं है। ऐसा नहीं है कि अर्थ-लोक और उधर बढ़ता हमारा पुरुषार्थ हमारे व्यवहार से – जिसे शायद कुछ लोग हमारा 'यथार्थ' कहना चाहेंगे – उससे विलग कुछ है : एक दूर का आकाश जिसका हमारी मिट्टी से कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसा होता तो हम व्यवहार के भी आदर्श नहीं पालते। हम क्या हैं? हमारा व्यवहार क्या हो? उसका

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

औचित्य क्या? ये प्रश्न उठते ही नहीं। पर ये हमारे व्यवहार में सदा ऊह्य रहते हैं। तभी *मनुष्य*-समाज संभव होता है। ये हमारे उसी प्रत्यक्-भाव का इंगित हैं जो अर्थ-लोकों में उजागर होता है। यह मनुष्य-भाव का बीज है, और अर्थ-लोकों का द्वार भी। तभी मनुष्य के व्यवहार, उसके 'सामाजिक यथार्थ' के भीतर से ही अर्थ-लोकों की परंपरायें जन्म लेती हैं, पलती हैं, पनपती हैं। सुकरात में आत्म की जो द्विस्वभावता स्वार्थ के अवर, और 'दैवी' प्रवर के बीच खाई उभारती जान पड़ती है, वहीं सेतु भी उभरता है। प्रेम का – और कला, संगीत, विचार, विज्ञान का – उन्माद हम सब में संभव होता है। हममें स्वार्थ के साथ ही स्व-का-समर्पण करते प्रेम का, मैत्री का, परदुःखदुःखिता की संवेदना का भी प्रत्यक्-बीज होता है। तभी हमारे व्यवहार में, हमारी देह-मन-घिरी सत्ता में, स्वार्थ के साथ परार्थ सहज ही घर करता है। हम सहज ही व्यवहार के लोक को भी अर्थ-लोक के रूप में ही देखते-जानते हैं। और तभी हमारी करनी *कर्म* का रूप लेती है। हमारे अर्थ-काम धर्म के साथ जागते हैं। मनुष्य के समाज, समाजों की व्यवस्था, संस्थायें, सभी के भीतर एक औचित्य की साधना, एक सार्थकता का प्रयोजन सदा जागता है। व्यवहार के स्तर पर भी मनुष्य की रहनी अपने स्वभाव से ही निरी उपादेयता के ऊपर एक गहन उपेयता का बोध पालती है।

हाँ, फिर भी मनुष्य अपने व्यवहार के स्तर पर स्थाणु सा ही लग सकता है, जैसे वहीं का वहीं रहता है। 'न कदाचित् अनीदृशं जगत्' (ऐसा कभी नहीं था जब यह संसार ऐसा ही नहीं था), यह पुरानी कहावत व्यवहार-लोक पर पूरी उतरती दिख सकती है। व्यवहार-लोक भी एक अर्थ-लोक ही सही, पर पिछले हजारों साल के बाद भी इस अर्थ-लोक में जागती चेतना कुछ अधिक सार्थक हो पाई हो, ऐसा तो नहीं लगता। अपने पिछले शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि मनुष्य के व्यवहार-जगत् में मनुष्य-चेतना का सहज-सुलभ पराक्-भाव ही हावी दिखता है।

लेकिन फिर भी, वहाँ भी, एक अनिवार प्रत्यक्-मुखीनता बिंधी रहती है जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है। उसी की ओर आगे बढ़ता हूँ।

मैं समझता हूँ कि हमारे यहाँ मनुष्य का लक्षण सही किया गया है : मनुष्य में धर्म होता है जो किसी और जीव में नहीं होता। यह बात मनुष्य के लिए उसके व्यवहार के स्तर पर ही कही गई है। धर्म स्वभाव से साध्य है सिद्ध नहीं। धर्म का साध्य है काम और अर्थ को औचित्य के अनुकूल ढालना। काम और अर्थ साध्य नहीं होते हैं। सिद्ध-प्रदत्त ही होते हैं – पशुओं की निसर्ग-प्रवृत्ति में भी पाये जाते हैं। इनके लिए कहा जा सकता है कि ये समष्टि के प्रवृत्ति-साफल्य और तदर्थ हानोपादान में ही ऊह्य रहते हैं। पशु-प्रवृत्ति के स्तर पर इनमें बदलाव भी आता है तो परतन्त्र कारणों से। काम और अर्थ इस निसर्ग-प्रवाह में साध्य नहीं होते। पर मनुष्य में हो जाते हैं – यही धर्म की प्रत्यक्-मुखीनता भी कहला सकती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

मनुष्य-समाजों की व्यवस्था (उनका 'अर्थ-तन्त्र') किसी प्राकृत क्रिया के हवाले नहीं होती, मनुष्य के *कर्म* का सापेक्ष होती है। मनुष्य उसे *चलाता* है। औचित्य-बोध के साथ चलाता है – तभी वह एक अर्थ-लोक का रूप भी लेता दिखता है। यह बात इससे और भी प्रकट है कि मनुष्य के काम में - इच्छा-तन्त्र में भी - संकल्प का विवेक आ समाता है।

काम की बात से यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक है : धर्म को अभी हमने व्यवहार से जोड़ा तो समष्टि को उसका संदर्भ बनाया, पर धर्म अगर अर्थ और काम को साध्य बनाता है तो यहाँ एक वैषम्य उभरता दिख सकता है। अर्थ और काम में एक गहरा भेद है – अर्थ का सम्बन्ध समष्टि से है, जबकि काम का व्यष्टि से। इससे एक व्यामिश्र जाग सकता है : धर्म मनुष्य का व्यष्टि-रूपेण लक्षण है या समष्टि-रूपेण?

उत्तर का एक सीधा-सरल सा रास्ता हो सकता है कि प्रश्न को अप्रश्न ही ठहरा देने की ओर मुड़ा जाये। कहा जा सकता है कि मनुष्य का लक्षण करते हुए यह भेद प्रांसगिक नहीं है। जब हम कहते हैं कि 'बुद्धि मनुष्य का लक्षण है' तो व्यष्टि और समष्टि को अलग करते हुए ऐसा नहीं कहते। पर *हम* यहां ऐसा नहीं कह सकते - हमारी तो चर्चा ही इस भेद को लेकर चल रही है।

फिर एक बात और भी है। हमारी चर्चा में भी मनुष्य का एक व्यावर्तक लक्षण उभरता दिख सकता है – चाहे लक्षण के रूप में कण्ठतः न भी उभारा गया हो। हमारे कथन में यह लक्षण झलकता ही है कि 'मनुष्य आत्मचेतन जीव है'। इस लक्षण के कारण ही हमारी चर्चा में व्यष्टि और समष्टि के बीच भेद की रेखा भी उभरी है। अब अगर हम मनुष्य को आत्मचेतन कहते हुए उसे धर्म से भी लक्षित कर रहे हैं तो प्रश्न उठेगा ही कि मनुष्य में धर्म व्यष्टि-रूपेण है या समष्टि-रूपेण? यह प्रश्न उठेगा तो अर्थ और काम का वैषम्य भी आड़े आयेगा। अर्थ व्यवस्था है, जिसमें राज्य-तन्त्र, कानून, उत्पादन-व्यापार आदि के सम्बन्ध और ढाँचे ... सब आ जाते हैं। इसका सम्बन्ध मूलत: समष्टि से ही बैठता है। पर काम का सम्बन्ध तो समष्टि-भिन्न व्यष्टि से ही हो सकता है। पशु के लिए हम कह सकते हैं कि उसमें काम व्यष्टि-गत होते हुए भी व्यष्टि ही समष्टि के अनुरूप ढला होता है। पर मनुष्य के लिए ऐसा नहीं कह सकते – विशेषकर आत्मचेतना भी अगर व्यष्टि का लक्षण हो।

पर हम यह भी देख आये हैं कि आत्मचेतना में व्यष्टि अगर 'व्यक्ति' का रूप लेता है तो उसका आत्म चेतना के भीतर ही अन्य-सामान्य भी होता है, तभी मनुष्य-समष्टि 'समाज' का रूप लेती है, जिसके मूल में व्यक्ति की आत्मचेतना ऊह्य रहती है। आत्मचेतना के एक ही व्यापार में व्यक्ति और समाज दोनों सिद्ध से साध्य बनते हैं – क्योंकि मनुष्य – आत्म हो या सामान्य – जिस चेतना में 'मनुष्य' हो पाता है, उस चेतना में ही पराक् के साथ एक प्रत्यक्-भाव आ समाता है। यह चेतना प्रकट (आत्मचेतन) व्यक्ति में होती है, पर व्यक्ति *की* नहीं होती – सामान्य होती है। इसी में औचित्य-बोध का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वह बीज भी जड़ करता है जो अर्थ और काम में निसर्ग-प्रवृत्ति के प्रवृत्ति-साफल्य मात्र से ऊपर उठी धर्म की स्वतन्त्र उपेयता जगाता है।

भाषा को लीजिये। भाषा का सम्बन्ध उसी तरह मनुष्य-सामान्य से है जैसा धर्म का। भाषा समष्टि में ही उभरती है, पर प्रयोग उसका व्यक्ति ही करते हैं। व्यक्ति ही आत्मचेतन होते हैं, पर समष्टि के अंग हो कर ही। मनुष्य में व्यष्टि-समष्टि का सम्बन्ध विचित्र पर गूढ़ सा है, जहाँ दोनों किसी अर्थ में परस्पर-विद्ध रहते हुए भी स्वतन्त्र होते हैं। चेतना के एक ही मोड़ पर उभरते दीखते हैं। चेतना के एक ही अन्तरिक्ष में जागते हैं। हम कह सकते हैं कि भाषा अगर मनुष्य में चेतना के सामान्य-भाव का जागरूक अनुवेध है - या अभिव्यक्ति है - तो धर्म उसमें निहित उस प्रत्यक् औचित्य-बोध का उद्रेक है जो जीव-प्रवृत्ति को एक नई स्वतन्त्र गति देता है।

मनुष्य में व्यष्टि और समष्टि का सम्बन्ध गुत्थिल है, पर दोनों में जो भी भेद है, बड़े गहरे परस्पर-भाव के साथ है। भाषा में तो यह बात स्पष्ट ही है। पर काम (कामना) को लें। काम व्यक्ति-*निष्ठ* ही नहीं होता, व्यक्ति के अपने 'विशेष' का संकेत भी होता है। पर व्यक्ति ही निरा विशेष नहीं होता, समाज-भुक्त होता है। मैं अपने भीतर भी देख सकता हूँ कि मेरी व्यक्तिगत कामनायें, जो मुझे व्यक्ति-रूप में व्याकुल-व्यस्त रखती हैं, वे कामनायें भी मेरे संस्कारों में जागती हैं। संस्कार मैं समाज से पाता हूँ। मैं कल्पना भी कर सकता हूँ कि संस्कार भिन्न होते तो कामनायें भी 'वही' नहीं होतीं जो हैं। जिन कामनाओं का बीज मेरे 'जीव-भाव' में ही देखा जा सकता है – भूख, यौन-वृत्ति, निद्रा... ये भी मनुष्य-व्यक्ति में 'संस्कृत' ही होती हैं, नितान्त प्राकृत नहीं। हाँ, फिर भी व्यक्ति समाज-निमज्जित नहीं होता, न काम में, न अर्थ में, न धर्म में। पर उसका यह स्वातन्त्र्य ही धर्म का बीज होता है - लेकिन जिस चेतना में यह स्वातन्त्र्य जागता है, वह व्यक्ति की निरहं, अन्य-सामान्य चेतना होती है। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि स्वातन्त्र्य और औचित्य-बोध की प्रत्यक्- दीप्ति जिस अपूर्व प्रभा के साथ व्यक्ति में जाग सकती है, समष्टि में नहीं पायी जाती। पर धर्म का अभाव ही नहीं, अधर्म का उग्र, आसुरी-भाव भी व्यक्तियों में जिस रौद्र-बीभत्स रूप में पाया जा सकता है, समष्टियों में नहीं पाया जाता।

धर्म के सन्दर्भ में व्यष्टि-समष्टि भेद की चर्चा प्रासंगिक है पर चर्चा हम यहाँ नहीं, आगे करेंगे।

पर एक बात फिर भी अटपटी लग सकती है : धर्म चाहे मनुष्य मात्र में सामान्य-भाव से व्याप्त हो, पर भिन्न मनुष्य-समाजों-समष्टियों में एक रूप नहीं लेता – औचित्य की रीतियां, उसके आदर्श, अलग दिखाई देते हैं। यहाँ तक कि एक समष्टि दूसरी को इस अर्थ में 'बर्बर' (पशु-तुल्य) भी समझती है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर यही बात भाषा में भी देखी जा सकती है। पते की बात यहाँ यह है कि हर समष्टि अपने व्यवहार को *साध्य* ही रखती है। हर समष्टि की रीतियाँ, प्रथायें, कितनी ही रूढ़ हों, होती साध्य हैं - नियमों में ढली होती हैं। पालन, रख-रखाव चाहती हैं – आत्मचेतन प्रयास के साथ। इस सन्दर्भ में 'विकास' भी देखा जा सकता है – जिसे 'आत्मचेतना' के स्तर का विकास कह सकते हैं। समाज 'सभ्य' होता है तो उसमें औचित्य के आदर्श अपेक्षया खुले-सधे विमर्श के स्तर पर आ जाते हैं। हम क्या करें? यह प्रश्न प्रकट रूप लेता है। शास्त्र बनते हैं, जो 'प्रमाण'-संधान के प्रकट परिणाम होते हैं, शास्त्रों को समझने की, उनके आदेशों को पालने की परंपरायें, संस्थायें, बनती हैं, जिनमें औचित्य का प्रश्न और गहरा सकता है, औचित्य-बोध विमर्श के साथ बदल सकता है। यह ठीक है कि औचित्य का प्रश्न व्यक्ति ही करते हैं, समाज नहीं, पर व्यक्ति की चेतना में समाज-चेतना का अनुरणन रहता है, जो फिर अन्य व्यक्तियों में प्रसृत होता है, पूरे समाज को प्रभावित करता है।

फिर भी, कहना न होगा कि समाज उस अर्थ में आत्मचेतन नहीं होता – न हो सकता है – जिस अर्थ में व्यक्ति होता है। समाज की अपनी गति होती है, जिसमें व्यक्ति अपने को अलग पा सकता है (और अपने निजी औचित्य-बोध के साथ अलगाव साध भी सकता है), पर समाज होता साध्य ही है, और चेतना के उसी प्रत्यक्-भाव के साथ जो व्यक्ति को भी साध्य बनाता है। समाज में नियम-व्यवस्था का होना ही उसकी साध्यता का प्रमाण है। नियम का स्वतन्त्र-भाव से *पालन* करना होता है, और पालन का क्रम निरन्तर नियम-मीमांसा को जगाये रखता है, और इस मीमांसा के निकष नियम से नहीं, 'नियम क्या है?' 'क्या हो?' इस नियम-उत्तीर्ण प्रश्न से बनते हैं। निदान को नियम की बात 'हम क्या करें?' इस आत्मचेतन प्रश्न से ही जुड़ती है। नियम का होना मनुष्य के समष्टि-जीवन में एक *स्वरूपगत* साध्यता, उपेयता का लक्षण है – नियम यह भी दिखाते हैं कि मनुष्य का व्यवहार-लोक अर्थ-लोक भी है। हमने दूसरे जिन अर्थ-लोकों की बात की वे व्यवहार की धरती पर ही बनते हैं, पर व्यवहार-लोक की अर्थात्मकता को उनकी संभावना की नींव कहा जा सकता है। चेतना का प्रत्यक्-भाव व्यवहार-लोक में जड़ न करता हो तो उसका अर्थ-लोकों में विस्तार असाध्य होगा। व्यवहार की भूमि, मनुष्य-चेतना की प्रथम या आदि कर्म-भूमि है। यह भूमि अर्थ-लोकों से अलग खड़ी 'सिद्ध' या 'प्रदत्त' भूमि नहीं है। इसमें भी प्रत्यक्-भाव का स्पंद है – यह भी साध्य-भूमि है। यह बात और है कि इसमें उन्मेष वैसा स्पष्ट नहीं दिखता जैसा अर्थ-लोकों में दिख सकता है। इसका कारण यह भी है कि यह भूमि वैसी स्पष्ट आत्मचेतना में भी नहीं बसती जहाँ अर्थ-लोक घर करते हैं। पर घर यह भी चेतना के उसी मोड़ पर करती है, जहाँ से आत्मचेतना और उसके अर्थ-लोकों का उदय देखा जा सकता है। चेतना की जिस प्रत्यक्-गति में आत्म-चेतना उभरती है, वह मनुष्य-

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सामान्य में — मनुष्य-जाति में — उभरती है। तभी *मुझ* में उभर पाती है। और तभी मनुष्य-समाज भी संभव होते हैं, और उसी संभावना के साथ व्यक्ति-चेतना में आत्म-बोध। समष्टि-चेतना आत्मचेतना नहीं है, पर चेतना का जो स्फुरण उसे साध्य बनाता है वही मुझे भी साध्य बनाता है। तभी समष्टि-चेतना में अर्थ-साधना के वे व्यूह पनप पाते हैं जो अनेक की चेतना में घर करते हुए देश-काल-पात्र से स्वतन्त्र परंपरायें पालते हैं। या बात को यों भी कह सकते हैं : मनुष्य की समष्टि व्यष्टि-मनुष्य की आत्मचेतना को ऊह्य रखकर ही मनुष्य-समष्टि होती है।

एक बात लक्ष्य है। आत्मचेतना की मध्यस्थता उसमें प्रत्यक्-भाव को ही नहीं स्फुट करती, उसका पराक्-भाव भी यहीं प्रकट होता है — अन्यथा प्रवृत्ति के पशुवत्-प्रवाह में दोनों ही सुप्त से रहते हैं। प्रत्यक् जागता है तो पराक् भी आँख खोलता है। यही बात आत्मचेतना को द्विस्वभावता भी देती है — फायेद्रुस में सुकरात ने स्वार्थ के 'सयानेपन' की बात की। हमने इस सयानेपन को व्यवहार का ही सयानापन कहा - जो हम सिखाते-साधते भी हैं। पर इसे सिखाने-साधने की - मनुष्य को *संस्कृत* करने की - आवश्यकता ही इसलिये पड़ती है कि चेतना की और भी वृत्तियाँ अब जाग उठती हैं जो मनुष्य में पराक्-भाव की विचित्र विभीषिकायें जगा सकती हैं — निरर्गल, निर्मम, नृशंस, निरर्थ, अनर्थ-भाव की वृत्तियाँ जो पशुओं में अकल्पनीय हैं। इन घोर, विचित्र, 'आसुरी' वृत्तियों को गिनाने की या इनके विवरण की यहाँ आवश्यकता नहीं, पर इनमें किसी भी 'दिव्य' कहला सकने वाले भाव का अभाव ही नहीं होता, उसका सचेष्ट विरोध-विद्रोह होता है। इन्हें 'दिव्य' तो दूर, किसी 'सयानेपन' की भी कोटि में नहीं रख सकते। ये दिखाती हैं कि 'सयानापन' भी साध्य है। यह बात फायेद्रुस में भी व्यंजित है : प्रेमी 'सयाना' *है* नहीं - हो सकता है; अन्यथा काम उसे गृध्नुता और मोह के तमस् में डुबा दे सकता है। तमस् की ऐसी आसुरी अवस्थायें बहुत हैं जो व्यक्तियों में ही नहीं, समूहों में भी समा जाती हैं, और अपना उद्देश्य साधने में बुद्धि का - नीति का - प्रयोग भी कर सकती हैं।

मनुष्य में चेतना के पराक्-भाव का उसके प्रत्यक्-भाव के साथ उभरना धर्म और नीति की प्रतियोगिता का बीज भी कहा जा सकता है। या यों कहना अधिक उपयुक्त होगा कि नीति-बोध का उदय धर्म-बोध के साथ ही अनन्तरीकतया होता है। दोनों ही मनुष्य-चेतना के द्विमुखीन पराक्-प्रत्यक् भाव में एक साथ उभरते हैं। उसीकी प्रसूति कहे जा सकते हैं। दोनों युगनद्ध हैं।

पर 'धर्म' और 'नीति' में एक और गहरा अनुवेध भी दिखता है, जहां दोनों का परस्पर-भाव प्रकट होता है। धर्म-बोध के साथ ही नियम-बोध का उदय होता है। नियम-बोध में नीति-बोध ऊह्य है - नियम धर्म को रूप देने का उपाय है - सहज, अप्रयत्नसिद्ध

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उपाय, जो भाषा की तरह ही मनुष्य-भाव के साथ जागता है। धर्म की उपेयता न जागे तो नीति के इस उपाय की भी आवश्यकता नहीं। पशु में नियम-नीति नहीं होती।

साधारणतः 'नीति' का अर्थ 'किसी भी उपेय के लिए समर्थ उपाय-कौशल' ही लिया जाता है। मैंने भी लेखमाला का आरम्भ 'नीति' का यही अर्थ लेकर किया था। पर 'धर्म' को अर्थ-काम के साथ जोड़ें और समष्टि के संदर्भ में देखें तो धर्म के इस व्यापक, मनुष्य-मात्र-को-समेटते अर्थ के साथ नीति भी एक व्यापक अर्थ में उभरती दीखती है। इस स्तर पर नीति नियम का रूप लेती हुई सहज धर्म-बोध के 'प्राज्ञ' उपाय के रूप में मनुष्य के क्षितिज पर स्वतः उभरती दीखती है। मनुष्य में नियम का होना उसकी रहनी-करनी के पाशव-प्रवाह से उठाकर उपेयता के आकाश में खुल जाने की अभिव्यक्ति भी है, उसका चिह्न भी। नियम एक ऊर्ध्वतर चेतना की ओर इंगित करता है। नियम का तात्पर्य नियम से ऊपर ही रहता है। इस अर्थ में नीति एक 'अपूर्व-विधि' है – औचित्य-बोध को रूप देने का 'उपाय'। इसके साथ ही मनुष्य में पाशव-क्रिया कर्म का रूप ले लेती है - नियम स्वातन्त्र्य का भी सापेक्ष है।

नियम हर जगह एक नहीं होते। भाषा की तरह ही यह 'अपूर्व-विधि' वैविध्य-सार होती है - पर होती मनुष्य-मात्र में है। नियम का वैविध्य उसकी चरिष्णुता का भी साक्षी है, और उसके साध्य होने का। नीति का दूसरा रूप जो स्वार्थ के सन्दर्भ में, या अन्य किसी स्थिर उपेय को लक्ष्य में रखकर उभरता है, वह इस अर्थ से भिन्न है, पर वह भी इसी की धरती पर उभरता है - मनुष्य की धर्म-निहित, *मनुष्य* -सुलभ रहनी को, उसकी कर्म-स्वभावता को ऊह्य रखता है। मनुष्य में धर्म के निगूढ-निविष्ट अर्थ को ध्यान में रखे बिना अकल्पनीय है। सुकरात के फायेद्रुस को यहाँ फिर से लीजिये। वहाँ झलकता है कि प्रेम का सयानापन किसी के आचरण का स्वभाव-प्राण *शील* ही नहीं, एक छल भी हो सकता है। यह बात सयानेपन को स्वार्थ साधने की नीति बना दे सकती है। तभी सुकरात को यह सयानापन ही अखर जाता है। पर यह सयानापन प्रेम के प्रत्यक्-भाव का भी उपजीवी है, उसके बिना प्रेम का प्रसंग ही नहीं उभर सकता। रति तो पशु में भी होती है। रति में जब कोई उदात्त संभावना जागती है तभी सयानेपन का भी अवकाश बनता है - उसके शील का भी और उसकी वंचना-भरी नीति का भी। वंचना औचित्य की उपजीवी ही होती है।

जैसे प्रेम में एक अगाध उपेयता है जो हमारी कुछ ही पकड़ में आती है, पर जो हमारी रति को पशु की रति नहीं रहने देती है, वैसे ही धर्म-चेतना का एक विराट् प्रत्यक्-आयाम है जो हममें उतरता है तो हमारी रहनी की धरती ही बदल देता है। भाषा के वर्ण निरर्थक होते हैं, जीव-सुलभ भी कहे जा सकते हैं, पर भाषा वर्णों को अपने में समो कर उनमें अर्थ का संचार कर देती है। वैसे ही धर्म हमारी क्रियाओं में औचित्य का बोध जगाकर उन्हें

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सार्थकता की दिशा दे देता है : तभी नियम बनते हैं, जिनका हम अपने कर्म में पालन करते हैं, पर जिनका अर्थ भी ढूँढते हैं, और अर्थ-संधान में नियम भी नये ढलते रहते हैं।

बात को एक और बड़ा आयाम देने के लिए हम 'धर्म' शब्द के उस व्यापकतर अर्थ को विमर्श में ला सकते हैं धर्म जहां 'मजहब' या 'रिलिजन' का अर्थ ले लेता है। हमारे यहाँ दोनों के लिए एक ही शब्द है –'धर्म'। पर यह बात कर्म के औचित्य और 'रिलिजन' में एक अन्तर्सम्बन्ध की ओर भी इंगित करती है।

भाषा के साथ आत्मचेतना के निहित-निबिड़ सम्बन्ध की बात हम कर चुके हैं। मैंने भाषा को एक 'अपूर्व विधि' के रूप में देखा है। 'अपूर्व' इस अर्थ में कि इसे किसी कार्य-कारण या परिणाम-शृंखला से नहीं जोड़ा जा सकता। 'विधि' इसलिए कि यह आत्मचेतना का सहज माध्यम या 'वाहन' या 'उपाय' बनती हुई, मनुष्य की जिजीविषा को ही अर्थ-संधान का आयाम दे देती है। भाषा को – और भाषा के माध्यम से आविर्भूत विमर्श-चेतना को हम जीव-चेतना के इतिहास में एक नया उन्मेष, एक नया 'विस्फोट' भी कह सकते हैं। कह भी आये हैं। चेतना ही मानो यहाँ नया मोड़ लेती दीखती है।

इस मोड़ को भाषा-चेतना का ही नहीं, धर्म-चेतना का मोड़ भी कहा जा सकता है। धर्म-चेतना भाषा-चेतना से अपृथक् आविर्भूत होती है। दोनों में चेतना के एक ही प्रत्यक्-भाव का प्रकाश लगता है। पर दोनों को अलग भी किया जा सकता है। कुछ लोग दोनों में किसी तरह का कार्य-कारण सम्बन्ध भी देखते हैं। पर इस बात की सुथरी पड़ताल संभव नहीं। साक्ष्य क्या होंगे? उनकी पहचान-परीक्षा क्या होगी? बात अटकल में ही उलझी रहेगी। वैसे भी बात का सार काल में घटी किसी घटना में नहीं है कि कार्य-कारण की बात सार्थक हो। 'घटना' – अगर इसे किसी लक्षण से 'घटना' कहा भी जा सके – तो भी यह चेतना में घटित होती है, काल का बोध जिसके विमर्श का अंग होता है, जिसके बिना 'काल' का बोध ही संभव नहीं। इस 'घटना' को कार्य-कारण से जोड़कर किसी काल में (और किसी देश में) रखना चेतना को ही जड़ का परिणाम या कार्य मानने की बात होगी, जिसमें हम स्वतोविरोध की बात कर आये हैं।

पर प्रश्न फिर भी होगा कि धर्म को रिलिजन के रूप में समझा-आँका कैसे जाये? फिर कर्म के औचित्य का रिलिजन से क्या सम्बन्ध? रिलिजन के अर्थ में, धर्म क्या है?, यही एक टेढ़ा प्रश्न है। रिलिजन की व्यावृत्ति करने बैठें तो उलझनें ही नहीं, अजीब से गडमड व्यामिश्र तत्त्व सामने आते हैं। अनबूझ सा भानमती का पिटारा है रिलिजन। टोने-टोटकों की क्षुद्रता से लेकर अध्यात्म का उत्तुंग, सभी 'धर्म' के नाम से जाने जाते हैं। दर्शन भी इसका अंग है, और विचार का अनुदार कट्टरवादी सोच-और –समाज–को-बाँधता आस्था-तंत्र भी। हमारी नीची-ऊँची सभी वृत्तियाँ इसके घेर में लायी जा सकती हैं। फिर रिलिजन में सहज अनैक्य भी होता है, वैसा ही विविध और विसदृश जैसा भिन्न भाषाओं में

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

– जबकि कर्म के औचित्य में हम सार्वभौम एकत्व भी चाहते हैं। बड़ा सवाल यह होगा कि ऐसे बिखरे, एक-दूसरे को काटते हुए अनगिन सूत्रों के जटिल- गुत्थिल क्षेत्र का हम धर्म के उस क्षेत्र से कोई सार्थक सम्बन्ध कैसे जोड़ेंगे जिसे हमने कर्म के औचित्य का क्षेत्र कहा है, कर्म के औचित्य को हमने परार्थ की दिशा दी है, पर रिलिजन तो स्वार्थ और परार्थ दोनों को एक साथ प्रश्रय देता लगता है। फिर कर्म उसके लिए विधान की बात है, विमर्श की, पुरुषार्थ-संधान की नहीं। 'रिलिजन', 'मैं क्या करूँ?' या 'हम क्या करें?' इस प्रश्न को प्रश्न ही नहीं रहने देना चाहता। यह सच भी हो कि धर्म शब्द के 'रिलिजन' और 'कर्म का औचित्य', इन दोनों अर्थों में एक परस्पर-अनुवेध है, तो भी हम अगर कर्म के औचित्य पर विचार करना चाहते हैं तो बात को रिलिजन के पचड़े से हटा ही लेना चाहिये। रिलिजन के स्थूल-सूक्ष्म, अंतरंग-बहिरंग, बेमेल तत्त्वों के अविचारित जाल में बात घपले में पड़ जा सकती है। फिर रिलिजन युक्ति-द्वेषी है, निराधार श्रद्धा में पलता है। ऐसे कार्य-कारण भावों के मोह में हमें उलझाता है जो प्रत्यक्ष या अनुमान से प्रमाणित ही नहीं हो सकते : अमुक यज्ञ से, या पूजा से, या अनुष्ठान से, अमुक लोकोत्तर की प्राप्ति होगी, या अमुक कामना पूरी होगी...। इसके विपरीत, पर एक अनहोने रूप से इसके साथ ही, रिलिजन विशुद्ध निवृत्ति की भी प्रेरणा जगाता है, जो कि कर्त्तृत्व का ही प्रत्याख्यान है। इन्हीं विरोधों में उलझा हुआ कर्म के विधि-निषेधों का विधान है, जिसका कोई सुथरा विमर्शमय धरातल नहीं बनता – जहाँ कर्म का औचित्य स्वतन्त्र औचित्य-बोध में जागता ही नहीं जान पड़ता। हमारे पुराणों में यह घिचपिच साफ सामने आती है – पर हर रिलिजन में उभरती दिख सकती है। धर्म कई तत्त्वों की घालमेल का नाम है। कर्म ही नहीं ज्ञान और भाव भी उसमें अनुस्यूत हैं। फिर उलझन यह भी है कि 'रिलिजन' नाम की हम जिस विशाल गडमड की बात करते हैं, वहाँ वैविध्य इतना अपार है कि 'रिलिजन' कहलाने वाले क्षेत्रों का कोई अनुगत लक्षण ही आगे आता नहीं दिखता। किसी रिलिजन में ईश्वर ही सब कुछ है, तो किसी में है ही नहीं – हमारे यहाँ ही 'हिन्दू' कहलाने वाले धर्मों में ही ये दोनों बातें मिल जायेंगी। फिर कन्फूशियस-पंथ जैसे पंथों को लीजिये, जिन्हें रिलिजन कहने न कहने, दोनों में दुविधा रह सकती है।

पर बात को यों देखें। 'रिलिजस' की एक सार्थक व्यावृत्ति 'सेक्यूलर' से की जा सकती है – इस रास्ते हम 'रिलिजन' में अपनी तरह की पैठ पा सकते हैं। यहाँ आक्षेप हो सकता है कि 'रिलिजस' और 'सेक्यूलर' जैसा भेद ही रिलिजन विशेष के चलते आक्षिप्त हुआ है – योरोप के ईसाई धर्म की परंपरा में यह भेद उभरा है, सब जगह नहीं। पर सेक्यूलर और रिलिजस का भेद निदान को लोक और लोकोत्तर का भेद है। बड़ा व्यापक भेद है – मनुष्य मात्र में लभ्य है। भेद गहरा भी है। हम जीवधर्म की सहज लौकिकता की आँख से

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देखें तो बड़ा अनहोना, बेढब सा भेद है। जीव-स्वभाव के बोध में ही क्रान्ति-लाता भेद है। भेद को एक और परस्पर-प्रतियोगी शब्द-युगल से अभिहित कर सकते हैं : दृष्ट और अदृष्ट। धर्म में कितना ही व्यामिश्र और वैविध्य हो, पर दृष्ट जगत् से परे एक अदृष्ट के सत्य का बोध प्रखर जागता है – ऐसा अदृष्ट जो दृष्ट में उतरता भी है। कहीं दोनों की धमनियाँ एक हैं।

भाषा के साथ जीव-प्रवृत्ति में आत्मचेतना उतरती है, पर अदृष्ट-बोध के साथ मनुष्य की जिजीविषा ही मानो एक नया मोड़ ले लेती है। उसकी प्रवृत्ति में एक अपूर्व एषणा आ समाती है। कर्म की तो जैसे संभावना का बीज ही यही है। क्योंकि बात अब प्रवृत्ति-साफल्य की ही नहीं, प्रवृत्ति के औचित्य की भी हो जाती है। प्रवृत्ति अब 'प्रवृत्ति क्या हो?' इस प्रश्न से आ घिरती है। मनुष्य पशु की तरह 'सिद्ध' ही नहीं रहता, साध्य हो जाता है। उपादेयता के भीतर एक निरुपादेय उपेयता का दिगंत आलोकित हो उठता है। आत्मचेतना में प्रत्यक्-भाव जाग उठता है और हमारी प्रवृत्तियों में अद्भुत रूप लेने लगता है। 'जीवो जीवस्य भोजनम्', यह जीव-प्रकृति है। पर अदृष्ट-बोध के साथ मनुष्य में यह लोक-विमुख, विपरीत प्रवृत्ति आँख खोलती है कि 'मा हिंस्यात् सर्व-भूतानि'। हम इस अहिंसा-बोध से अति परिचित हैं, इसलिए बात अजीब नहीं लगती पर थोड़ा भी मनन करें तो इसका होना ही विचित्र लगता है। बुद्धि, जो सहज लौकिक होती है, उसे तो यह एक उलटबाँसी ही लग सकती है। हर तरह से उलटी गंगा बहाता है यह बोध : जीव मरण-धर्मा है, जिनका भोजन करता है वे भी मरण-धर्मा हैं – जीव का जीव द्वारा भोजन यह प्राणयात्रा का निसर्ग-व्यापार है, जिसमें हम भी एक प्राणी हैं, इससे मुँह मोड़ लेने की ललक का अर्थ ही क्या? और चलिए, माना हम पशु से अधिक विकसित हैं, बुद्धिशील हैं, आत्मचेतन हैं, स्वतन्त्र हैं, तो जो थोड़ा सा जीते हैं उस जीवन में ही प्रवृत्ति-साफल्य और उससे उपजता सुख कुछ और ढूँढना चाहिये - उपाय-कौशल और नीति-दक्षता के साथ ढूंढ़ना चाहिये। आत्मचेतना का सार इसी 'सयानेपन' में है (या होना चाहिये), जो पशु में अविकसित रहता है। मनुष्य में ही जागृत होता है तो उसे ज्ञातृत्व देता है : इन्द्रियों का प्रत्यक्ष अब अध्यवसाय का रूप ले पाता है, अनुमान से युक्त होकर प्रसार पाता है, कार्य-कारण की सूक्ष्म, अब तक 'अदृष्ट' गतियों में उतर सकता है। उन्हें अपने प्रयोजन के वश कर सकता है। यों बुद्धि के विकास के साथ पशु की प्रवृत्ति-साफल्य का जगत् मनुष्य में आकर विराट् हो जाता है। उसके स्वतन्त्र संचालन का क्षेत्र बन जाता है। आत्मचेतना को 'अपूर्व' भी कहें तो यही आत्मचेतना की अपूर्वता है (या होनी चाहिये)। 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' जैसी बात तो आत्मचेतना का मोह या भ्रान्ति ही कहला सकती है। हम प्राणी हैं तो प्राण-धर्म में ही सुख पा सकते हैं। अहिंसा तो प्राण-धर्म की धारा को ही उलट देती है।

लेकिन थोड़ा भी डूब कर देखिये तो अहिंसा के बिना कर्म को द्वार ही नहीं मिलता दिखता है। हम व्यवहार-भूमि को कर्म-भूमि कह आये हैं। व्यवहार-भूमि प्राण-भूमि भी

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। कर्म में अगर कुछ भी परार्थ-भाव-में-बसा औचित्य-बोध है तो प्राण-मात्र के प्रति श्रेयस्-बोध उसकी जड़ में होना ही चाहिये। तभी व्यवहार-लोक प्रवृत्ति-साफल्य और सुखैषणा के घेर से उठ कर अर्थ-लोक बन सकता है। प्राणों को अपने आप में संरक्ष्य मानना कर्म-चेतना में ही अन्तर्निहित है। अन्य मनुष्य को तो हम अवध्य मानते हैं, पर यह बोध 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' तक प्रसृत हुए बिना पूरा नहीं बनता।

मैं यहां युक्ति दे रहा हूँ, पर बात युक्ति-मात्र की है ही नहीं। युक्ति से परे जागती एक चेतना है जो युक्ति ढूँढने की चेष्टा कर रही है। यह चेतना का प्रत्यक्-भाव है जो मनुष्य में अदृष्ट-बोध के साथ जाग उठता है।

आत्मचेतना को केवल बुद्धि से जोड़ा जा ही सकता है। और बुद्धि को स्वार्थ से। यों विचार करते हुए बुद्धि को मनुष्य का जातीय लक्षण माना जाये तो बुद्धि का काम जातीय-स्वार्थ-साधिका होगा। जातीय स्वार्थ को जातीय प्रवृत्ति-साफल्य और जातीय सुख की सिद्धि के साथ जोड़ा जा सकता है। साफल्य और सुख का आकलन जाति की अन्य जातियों पर विजय, प्रकृति पर नियन्त्रण, अधिकाधिक लोगों के लिए अधिकाधिक ईप्सित भोग के साधनों की प्रस्तुति जैसा कुछ, किया जा सकता है। यों इस चिन्तन में कर्म का अन्य–सामान्य, परार्थ-भाव स्वीकृत तो हो जाता है, पर उपेय स्वार्थ-पूर्ति ही रहता है। परार्थ-भाव स्वार्थ-पूर्ति के लिए उपादेय ठहरता है। पर, इस विचार में जाति भी *व्यक्तियों* का समूह ही ठहरती है - स्वार्थ और सुख-साफल्य की सिद्धि यहाँ *व्यक्ति* की ही अभिप्रेत है। व्यक्ति ही एक-दूसरे से मिलकर अपनी ही उपादेयता के लिए दूसरों से 'समझौता' करते हैं। अपने स्वार्थ का दूसरे के स्वार्थ से सामंजस्य बिठाते हुए, बुद्धि-प्रयोग-जन्य उपाय-कौशल से, नीति के साथ, सब के स्वार्थ में विस्तार साधते हैं, ताकि एक एक व्यक्ति के सुख-भोग में वृद्धि हो।

स्वार्थ-पूर्ति या प्रवृत्ति-साफल्य और उससे मिलता सुख अन्ततोगत्वा नीति की ही बात बन सकता है, धर्म की नहीं, क्योंकि 'परार्थ' यहाँ स्वार्थ का ही उपाय-कौशल है। परार्थ को स्वार्थ में अपचित कर लेने की मनीषा है यहां। चेतना की वह सम्पदा नहीं है जो अहिंसा-बोध के साथ स्फुटित होती है : सहानुभूति, संवेदना, करुणा, मैत्री, दया, क्षमा, परस्पर-भाव ...। पर ऐसी ही प्रवणता का दिगन्त मनुष्य की जातीय चेतना में रिलिजन के (अदृष्ट के) के साथ खुलता दीखता है। धर्म की (कर्म के औचित्य की) यही जड़ भी है, जो उपादेयता-बुद्धि प्रसूत नीति से स्वरूपतः भिन्न है।

मनुष्य की कर्म-प्रवृत्ति में रिलिजन के साथ एक अपूर्व श्रद्धा रूप लेती दिखती है। रिलिजन की प्रकट प्रवृत्तियों में यह श्रद्धा कितनी ही अस्पष्ट, क्लिष्ट, आविल-जटिल क्यों न हो, शुभ्र के साथ कितने ही कृष्ण सूत्रों में क्यों न उलझी हो – पर यह सुख-साफल्य, उपादेयता-मात्र से आगे निकलने की अकुलाहट भी पालती है। लोक में लोकोत्तर का गर्भ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चाहती है। उपादेयता से नितान्त भिन्न उपेयता का संदेश पाती है। तभी उसमें प्राण-मात्र के प्रति आत्मभाव अंकुरित होता है : मरणशील प्राण को वह अमृत-गर्भ ही नहीं, प्रज्ञा-गर्भ देखती जान पड़ती है, मृत्यु में मृत्यु-पार का संकेत पाती है। यह दृष्ट के साथ अदृष्ट का अनहोना गठबंधन है। रिलिजन के रास्ते मनुष्य में चेतना के ही दिशान्तर का प्रवेश है।

हम देख आये हैं कि भाषा-चेतना आत्मचेतना का एक व्यापक क्षेत्र है, जहाँ चेतना का प्रत्यक्-भाव व्यंजना-गर्भ प्रतीकों के माध्यम से अर्थ-लोक साधता है – उनमें नये नये संधान, सृजन करता है। ये गणित, दर्शन, कला ... के लोक हैं, विमर्श के लोक हैं : निर्वैयक्तिक हैं इसलिए व्यक्ति के ही नहीं, समष्टि के भी हैं।

विमर्श के क्षेत्र बुद्धि को ही नहीं, भाव को भी समोते हैं – चाहे दोनों की अपनी भिन्न गतियाँ हों, अपने स्वतन्त्र निकष जो एक ही प्रमाण-व्यापार में नहीं सिमट सकते हों। पर प्रामाण्यता का – औचित्य का – बोध दोनों में जागता है, और दोनों का सम्बन्ध चेतना के प्रत्यक्-भाव से उभरता है।

कर्म का क्षेत्र भी विमर्श का क्षेत्र है। पर इसका उदय ही भाषा के अतिरिक्त रिलिजन के साथ भी निबिड, निविष्ट सम्बन्ध रखता दिखता है। तभी भाषा की तरह ही इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मानव-जाति से है। जाति के माध्यम से ही यह व्यक्ति में जागता है, तभी यह व्यक्ति में जागता हुआ भी निर्वैयक्तिक, वैश्वानर क्षेत्र है। इसमें व्यष्टि और समष्टि चेतना का वैसा ही गुँथाव और अलगाव देखा जा सकता है जैसा भाषा में।

यहाँ तीखी आपत्तियाँ उठ सकती हैं – क्योंकि आज विचारकों में रिलिजन का विरोध तीखा है। लोग रिलिजन को मनुष्य की उस प्रबुद्ध चेतना से उलझाना नहीं चाहेंगे जहाँ भाषा रूप लेती है। रिलिजन को भाषा से ही नहीं, कर्म से भी अलग ही देखना चाहेंगे – मनुष्य की विमर्श चेतना में रिलिजन को एक विकृति या 'आदिम' सी धूमिल, कालिख-में-डूबी किरण मानते हुए। यहाँ उनके पक्ष से एक आधार-स्पर्शी युक्ति भी दी जा सकती है : हम रिलिजन का तो निषेध कर सकते हैं, करते ही हैं, पर भाषा का निषेध ही स्वतोविरोधी होगा। फिर यह भी है कि कर्म में हम रिलिजन से स्वतन्त्र पंथ बाँध और साध सकते हैं – युक्त, प्रशस्त, विमर्श के साथ, जो रिलिजन में संभव नहीं। यही नहीं, रिलिजन को हमने जिस 'अदृष्ट' – लोकोत्तर–बोध के साथ जोड़ा, हम विमर्श में उसका आमूल प्रत्याख्यान भी कर सकते हैं। तो, जिसे यहाँ धर्म की 'अदृष्ट' चेतना कहा जा रहा है वह मनुष्य में एक विराट् भ्रान्ति ही नहीं, मोह का अवतार ठहरती देखी जा सकती है। विमर्श का पहला काम तो इस मोह से उबरना है, इसके फेर में पड़ जाना नहीं।

सच पूछें तो अदृष्ट से इनकार कर देना कोई कठिन काम नहीं है। अदृष्ट हमारी आठ पहर की साँसों से हमें एकदम से अछूता लगता ही है। पर फिर प्रश्न होगा कि दृष्ट किसे कहेंगे? दृष्ट को प्रत्यक्ष-और-अनुमान-केन्द्रित वस्तु-लोक और उसी में घर करता हमारा

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

देह-चित्त-केन्द्रित प्रवृत्ति का प्रसार कहा जा सकता है (इस बात की एक बार उपेक्षा करते हुए कि अदृष्ट का बोध भी हमारे चित्त में ही घर करता है)। पर ऐसा कहना विमर्श की ही एक दृष्टि होगा। अब, विमर्श क्या है? दृष्ट या अदृष्ट? स्पष्ट ही, विमर्श केवल प्रत्यक्ष-निर्भर नहीं हो सकता। उसके लिए अनुमान तो चाहिए ही। अनुमान के बिना हम वैसे भी मानव-*दृष्ट* की कल्पना नहीं कर सकते। पर अनुमान व्याप्ति के बिना नहीं बनता। व्याप्ति सामान्य को आधार बनाती है। सामान्य को हम दृष्ट किस अर्थ में कहेंगे? 'सामान्य' के साथ भाषा स्वत: आ जाती है : सामान्य की धारणा हम भाषा के विकल्पों (प्रत्ययों) के बिना नहीं कर सकते। पर प्रश्न पुराना है, कि क्या ये विकल्प दृष्ट का ग्रहण करते हैं या उसकी कल्पना करते हैं? और भाषा, क्या वह भी दृष्ट है? भाषा न प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है, न अनुमान से, जब कि ये दोनों भाषा को ऊह्य रखते हैं। फिर भाषा-गर्भ विकल्प का दृष्ट से कोई दृष्ट-सम्बन्ध बैठाना और भी मोघ सी चेष्टा जान पड़ती है। अचंभा नहीं, बौद्ध विचारकों ने विकल्प को कल्पना ही कहा है। पर इसे कल्पना मानें तो हमारा दृष्ट ही कल्पना हो जाता है - क्योंकि हमारे लिए तो भाषा और उसमें घर करते सामान्य के बिना प्रत्यक्ष भी रूप नहीं लेता। हमारी इन्द्रियों की आँख हमारी भाषा-चेतना ही होती है – उसके बिना इन्द्रियों के लिए भी 'दृष्ट' क्या होता है? न यह 'दृष्ट' व्याप्ति के बिना अवधेय है, जो कि अनुमान का आधार है। व्याप्ति - या प्रत्यक्ष-निष्ठ व्याप्ति कहिये – यह सामान्य को आधार ही नहीं बनाती, सामान्य और सामान्यों के बीच के अदृष्टतः निर्धारित सम्बन्धों को दृष्ट में अधिष्ठित करती है – कार्य-कारण को ही नहीं सामान्यतोदृष्ट को भी ('यह शीशम है तो पेड़ है', 'इसमें पृथिवीत्व है तो द्रव्यत्व है'), इसे 'प्रत्यक्ष' में अधिष्ठित करती है। विमर्श यहाँ सामान्य को दृष्ट में अपचित करने की चेष्टा कर सकता है – पर विमर्श की अपनी विचार-मात्र-निष्ठ विशुद्ध तर्कमयी उपपत्तियों का क्या होगा, जहाँ व्याप्ति की विशुद्ध, व्यवहार-शून्य, इन्द्रिय-शून्य, गम्य-गमकता उभरती है? विमर्श का इस व्याप्ति से अविनाभाव है (या यों कहिये कि विमर्श व्याप्ति-व्याप्त है) और इस 'विशुद्ध' व्याप्ति में और अनुमान की दृष्ट-व्याप्त व्याप्ति में तत्त्व-भेद नहीं किया जा सकता। करें भी तो वह दृष्ट को विमर्श के 'अदृष्ट' से हटाने का एक विमर्श ही होगा – हमारे व्यवहार में, हमारे व्यवहार-ज्ञान में, विमर्श-रिक्त 'दृष्ट' की प्रतिष्ठा नहीं होगी। सच तो यह है कि हमारा प्रत्यक्ष अध्यवसाय के बिना नहीं बनता, और अध्यवसाय विमर्श के बिना। और विमर्श प्रश्न-गर्भ होता है। उसकी 'अदृष्टता' इसी से झलकती है कि विमर्श का पहला ही प्रश्न यह हो सकता है कि जो दिख रहा है वह है या केवल दिख रहा है? हम पीछे देख चुके हैं कि आत्मचेतना में ग्राह्य का ग्राह्यत्व – 'दृष्ट' का 'दृष्टत्व' – ग्राहक-चेतना के प्रत्यक्-भाव में स्थित होने से ही उभरता है। यही उसकी 'अदृष्टत्व' में भी स्थितिं है (या 'गति' कहिये)। यों अदृष्ट को हमारी दृष्ट की चेतना से हटाया नहीं जा सकता।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पर एक बात की जा सकती है। की भी जाती है। 'दृष्ट' को ही एक और आयाम देते हुए हम विमर्श को -या 'बुद्धि' को कहिये या 'रीजन' को - इस वृत्ति को दृष्ट का ही अंग मान ले सकते हैं। कह सकते हैं, मनुष्य में विमर्श या रीजन 'दृष्ट' है – उसकी स्वरूप-सम्पदा है, जैसे उसकी देह, उसका चित्त। तभी मनुष्य उससे अपने जगत् का प्रखरतर, विपुलतर, गहनतर ज्ञान कर पाता है। विमर्श की अपनी अंतरंग उपपत्तियों में हमने जिस दृष्ट-इतरता की बात की, उसे दृष्ट-विमुखता नहीं समझना चाहिये। वह दृष्ट को नापने-समझने-साधने का माध्यम बनता है, जैसा विज्ञान में। इसके विशुद्ध तत्त्व-चिन्तन जैसे अन्य प्रयोग भी हो सकते हैं (विमर्श का स्वरूप-विमर्श, ऐसा ही प्रयोग है) पर वे कल्पना-विलास हैं। वे विमर्श के सही-सच्चे लक्ष्य भी नहीं हैं। विमर्श का सच्चा काम दृष्ट का ही ऐसा आकलन है कि हमारी मनुष्य-सुलभ देह-चित्त-वृत्तियों के साफल्य का पसारा बढ़ता चला जाये। विज्ञान यही काम करता है, और विज्ञान ही विमर्श का सही पुरुषार्थ है।

दिखता ही है कि ऐसा सोचना विमर्श के प्रति एक दृष्टि-विशेष, बल्कि एक आग्रह-विशेष ही हो सकता है। फिर विमर्श को यहाँ एक प्रकार के ज्ञान-विशेष के साथ बाँध दिया गया है – जिसे हम बाह्य जगत् का ज्ञान कह सकते हैं, विशेषकर उसके कार्य-कारणों में पैठ, ताकि हम उनका उपयोग कर सकें। पर कहना न होगा कि विमर्श का क्षेत्र यों सीमित नहीं है। और यह भी नहीं है कि विमर्श ही अनुमान और उपपत्तियों तक सीमित है। हम देख ही आये हैं कि कला और कर्म में भी विमर्श होता है। इन क्षेत्रों के विमर्श का औचित्य (या प्रामाण्य) उपपत्तियों से नहीं उभरता पर फिर भी इसकी अपनी 'व्याप्तियाँ' होती हैं, जो अपनी तरह का वैविध्य पालती हुई भी 'प्रामाणिकता' की माँग करती हैं। मनुष्य-भाव को थोड़ा भी उदार-भाव से देखिये तो हम पायेंगे कि भाव और कर्म में औचित्य-बोध, *यही* मनुष्य में विशेष है – बाह्य-जगत् में जड़ करती व्याप्तियों का बोध तो जीव-मात्र की प्रवृत्ति में जैसे निहित ही होता है - उसके बिना वह प्रवृत्ति ही संभव न होगी। अब, स्पष्ट ही, भाव और कर्म के औचित्य-बोध को – इन क्षेत्रों के अपने विमर्श को – समझने के लिए प्रज्ञा और प्रतिभा की –दूसरे शब्दों में, अदृष्ट की - बात स्वाभाविक है।

रिलिजन ऐसे अदृष्ट के साथ ही हममें अवतरित होता है। हमारा दृष्ट भी अब निरा दृष्ट नहीं रहता – अदृष्ट–व्यावर्तित दृष्ट हो जाता है। अदृष्ट के अनमिट स्पर्श से अनुप्राणित हो जाता है। *हम* अदृष्ट का प्रत्याख्यान करते हुए ही दृष्ट को *आदर्श* बनाते हैं – जैसा कि सेक्यूलर-बोध की या मानवतावाद की मनीषा करती है। पर हम *आदर्श* तो बनाते ही हैं। हमारे आदर्श-बोध का ही उत्स क्या? 'दृष्ट' अगर मनुष्य भाव में सहज है, स्वभाव-निष्ठ है, तो है, उसके साथ फ़िर 'होना चाहिये' का प्रसंग ही कैसा? पर सेक्यूलर-बोध और मानवतावादी बुद्धि का यही आग्रह है, पुरुषार्थ है, 'धर्म' है, कि उसे मानव की रहनी में प्रोत कर देने की चेष्टा करे। वे चाहते हैं कि मनुष्य की बुद्धि में ही नहीं, उसकी श्रद्धा में भी सेक्यूलर-बोध घर कर ले। इसके लिए वे उपयुक्त राज्य-तन्त्र और कानून ही नहीं, अनुकूल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

संस्कार और शिक्षातंत्र भी गुंफित करते हैं। पर यह तो धर्म ही है – सहज पशु-सुलभ अर्थ-काम नहीं है - पुरुषार्थ है, साध्य है। ऐसे औचित्य-बोध में बसा है जो दृष्ट को लक्षित करता हो, पर जिसका उत्स दृष्ट नहीं, मनुष्य की प्रत्यक्-चेतना में बसता अदृष्ट है। सेक्यूलर-बोध मनुष्य के व्यवहार को एक अर्थ-लोक के रूप में ही देखता है। मनुष्य क्या है? उसकी रहनी-करनी कैसी हो? इस प्रश्न का एक उत्तर खड़ा करता है। यह दृष्ट को ही साध्य बनाने की एषणा पालता-जगाता है। साध्यता के बोध को अपनी तरह से ऐकान्तिक कर देना चाहता है, पर वह भी एक साध्य ही ठहरता है। अदृष्ट में ही घर करता है, दृष्ट में नहीं। और सच तो यह है कि साध्यता का बोध हमारी चेतना की ऐसी उपेयता में बसता है जो यों बाँधी-घेरी या सीमित नहीं की जा सकती, न साध्यता के स्वरूप को प्रत्यक्ष, अनुमान, उपपत्ति, प्रवृत्ति-साफल्य, उपादेयता, इनमें समेटा जा सकता है।

सेक्यूलर-बोध एक आदर्श साधता हो, पर उसमें मनुष्य को स्वभाव से स्वार्थ-प्रवण मानने की ही दृष्टि है। यह दृष्टि आज हमारी बुद्धि के संस्कार में गहरी जड़ें जमा चुकी है। कम्प्यूटर-विषयक कल्प कथाओं को लीजिये तो संस्कार की गहराई हाथ कंगन सी सामने आती है। हम प्राणी-व्यापार को यन्त्र के दृष्टान्त पर भी समझ सकते हैं, जहाँ बोध की नहीं निरी क्रिया-प्रतिक्रिया की बात की जा सकती है -और 'प्राणी-व्यापार' के भीतर हम मनुष्य-इतर को ही नहीं, मनुष्य को भी ले सकते। कम्प्यूटर को निदर्श बनायें तो ऐसी समझ और भी साक्षात्-सी 'सिद्ध' हो जाती है। और अब तो ऐसे कम्प्यूटर-चालित रोबोट बनने भी लगे हैं जो 'कुछ करने' और 'समझ' के साथ करने में कुशल से कुशलतर होते जा रहे हैं – ये कुछ करते करते उपाय-कौशल में परिष्कार, दक्षता, लघुता भी साधते हैं, मानो 'सीखते' हैं। इनमें बुद्धि की बात सहज ही की जा सकती है। कई बातों में, जैसे गणना में, तो कम्प्यूटर की 'बुद्धि' मनुष्य से कहीं तुरत-फुरत, कुशाग्र होती है।

पर 'बुद्धिमान' होते हुए भी कम्प्यूटर और कम्प्यूटर-प्रेरित रोबोट यन्त्र हैं, जीव नहीं। उनमें जन्म-मृत्यु नहीं होती – सहज (अकृतक) जाति-प्रजाति नहीं होती, प्रजनन-व्यापार नहीं होता। हाँ, यन्त्र बनता है, नष्ट होता है, यन्त्र से यन्त्र भी बन सकता है। पर *हम* बनाते हैं, यन्त्र स्वयं ऐसा नहीं करते। यों यन्त्र में जीव की तरह *प्रवृत्ति* की बात निरर्थक है। पर आज कम्प्यूटर और रोबोट जैसे यन्त्रों में प्रवृत्ति की बात भी की जाती है। कम्प्यूटरों की अपनी पीढ़ियों की – परम्परा की – बात की जाती है। उसे मनुष्य-वत् देखने-समझने की प्रवृत्ति आज प्रबल है। तभी, किस्से-कहानियों में यह कल्पना भी व्यापक है कि वह मनुष्य जैसा सचमुच हो जा सकता है। इस सम्भावना की विभीषिकायें फिल्माई भी जाती हैं। मनुष्य और जीव-जगत् पर हिंस्र रोबोट-कम्प्यूटरों की निर्मम, नृशंस विजय के रौद्र चित्र खड़े किये जाते हैं। यहाँ कल्पना की प्रेरणा यन्त्र में प्रवृत्ति का बीज समा जाने की संभावना है। कम्प्यूटर यन्त्र ही नहीं 'बुद्धि-समर्थ' यन्त्र है। मान लीजिये उसमें अपनी प्रवृत्ति जागे तो

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

बुद्धि के साथ जागेगी – यन्त्र मनुष्य की तरह आत्मचेतन होगा। क्योंकि यन्त्र में अगर बुद्धि के साथ अपने आप से सीखने की शक्ति है, तो आत्म-निरीक्षण है, जो आत्मचेतना की धरती है। उसमें प्रवृत्ति भी जागे तो वह भी आत्मचेतन ही होगी। बात समझ में आती है। पर साथ ही यह विचार भी है कि यन्त्र अगर आत्मचेतन होगा तो स्वार्थी ही होगा। यन्त्र-जाति की विजय के लिए औरों का (विशेष कर मनुष्य का) सफाया करेगा। उसमें मनुष्य से कहीं अधिक क्षमता है, मनुष्य से कहीं अधिक नृशंस होगा।

पर यह विचार क्यों? इसका औचित्य क्या?

सोचने की बात यहाँ यह है कि आत्मचेतना के साथ स्वार्थ-चेतना को ही क्यों संसृष्ट माना जाये? यह एक अविचारित आस्था ही हो सकती है (इस आस्था की जड़ें आज हममें कितनी ही गहरी क्यों न हों)। यह ठीक है कि हम आत्मचेतन हैं तो स्वार्थ को लक्ष्य ठहराते हुए प्रवृत्त हो सकते हैं। पर यह भी सच है कि आत्मचेतना के साथ ही हममें परार्थ-भाव भी जागता है, प्राण-मात्र के प्रति एक आत्मभाव जागता है (जिसे मैंने ऊपर अहिंसा कहा)। 'प्राण का अभ्युदय हो'– यह अद्भुत बोध जागता है। कम्प्यूटर में भी प्रवृत्ति और आत्मचेतना जागेगी तो वह भी परार्थी क्यों नहीं होगा? आत्मचेतना बुद्धि-कौशल और तज्जनित नियन्त्रण-सामर्थ्य की – नीति की - ही धरती नहीं है, वह भोक्तृत्व में और कर्तृत्व में स्वतन्त्र औचित्य का उदय भी है, जो स्वार्थ के त्याग का भी मार्ग लेता है। इसीलिये इसे चेतना का प्रत्यक्-भाव कहा जा सकता है। इसमें एक लोकोत्तरता है, साफल्य-मात्र-उन्मुख, वासना-गर्भ प्रवृत्ति से स्वातन्त्र्य है - एक अदृष्ट उपेयता है जो हमें स्पंदित करती है, चाहे हमारे लौकिक 'दृष्ट'-बोध के लिए पहेली भी जगाती हो।

कह चुका हूँ कि आत्मचेतना भाषा-चेतना में निहित है। फिर भी मैं यहाँ रिलिजन के आविर्भाव को आत्मचेतना के साथ अलग से जोड़ इसलिए रहा हूँ कि रिलिजन मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों पर व्याप्त होता है। रिलिजन में यह दिखता है कि मनुष्य की जिजीविषा में ही मानो एक नया आयाम आ समाया है, एक नई उपेयता का संचार हुआ है, जो दृष्ट के परे आँख उठाती है।

(दृष्ट और अदृष्ट, यह भेद अपने यहाँ पुराना है। मीमांसकों में मिलता है। मीमांसक अपूर्व को – अपूर्व-विधि को – अदृष्ट के साथ जोड़ते भी हैं, पर वे अदृष्ट को स्वर्ग मानते हैं। यों उनकी कल्पना में अदृष्ट, दृष्ट का ही दृष्टोत्तर प्रसार बन जाता है, हमारा इहलोक-परिचित सुख-बोध ही वहाँ 'स्वर्ग' है। अदृष्ट वहां सचमुच अदृष्ट नहीं रहता। साफ हो चुका होगा कि मैं अदृष्ट शब्द का इस अर्थ में प्रयोग नहीं कर रहा।)

अदृष्ट-बोध के साथ ही मनुष्य में अर्थ और काम के साथ धर्म का आयाम आ जुड़ता है : मनुष्य की रहनी, करनी, उसकी चाह, तीनों में अब औचित्य का बोध सर उठाता है। आत्मचेतन मनुष्य अपनी व्यवस्था स्वयं चलाता है तो उसमें न्याय, दायित्व घर कर लेते हैं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

हम क्या हैं? हमारा जगत् क्या है? यह विमर्श जागता है – चाहे युक्ति का नहीं आख्यानों, अनुष्ठानों का रूप ले। 'क्या है' के साथ क्या 'होना चाहिए' स्वतः अनुप्रविष्ट हो जाता है। मनुष्य जाति की इस प्रत्यक्-चेतना के भीतर से ही व्यक्ति भी आत्मचेतन होता है।

सच पूछिये तो अदृष्ट ही नहीं, दृष्ट और अदृष्ट दोनों ही चेतना के प्रत्यक्-भाव के साथ जागते हैं। ऐसा नहीं है कि दृष्ट का बोध तो होता ही है, अदृष्ट उससे आ जुड़ता है। द्रष्टा-भाव के बिना दृष्ट की भी बात वृथा है। चेतना अपने पीछे हटकर अपने आप को देखती है तो द्रष्टा-भाव जागता है – प्रत्यक्-चेतना के साथ ही जागता है। इसके बिना उसे सुप्त या अव्यक्त ही कह सकते हैं। पर दृष्ट को 'दृष्ट' के रूप में देखती-परखती दृष्टि - 'दृष्ट क्या है?' यह पूछती-जाँचती दृष्टि - तभी जागती है जब चेतना अपनी ही दृश्य हो पाती है – अपने पीछे हट कर अपने ही ग्राह्य-ग्राहक भाव का ग्रहण करती है। तभी चेतना में वह मध्यस्थान उभरता है जो पराक्-दृष्टि के लिए दृश्य बनता है (या 'दृष्ट' बनता है, कहिये) और प्रत्यक्-दृष्टि के लिए अदृष्ट का क्षितिज खोलता है। इन दोनों के बीच विमर्श-चेतना जागती है।

'दृष्ट क्या है?' यह प्रश्न जागता है तो 'सत्य' की, प्रमाण की बात उठती है, विमर्श सत्य को मिथ्या या भ्रान्ति से व्यावृत्त करता हुआ देखता है। अनात्मचेतन चेतना के लिए सत्य-मिथ्या की बात नहीं उठती। वहाँ केवल साफल्य-चाहती प्रवृत्ति होती है, प्रवृत्ति से पीछे हटकर प्रवृत्ति को देखती चेतना नहीं होती जो प्रवृत्ति के जगत् को 'जानने' के लिए (और प्रवृत्ति क्या हो? यह भाँपने के लिए) 'प्रमाण' की माँग करे।

यह बात कि 'प्रमाण' को हम प्रवृत्ति के साफल्य-मात्र से नहीं जोड़ सकते, इसे हम यहां न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के एक व्यामिश्र के सहारे देखेंगे।

गौतम के न्यायसूत्रों पर कुछ कहने से पहले वात्स्यायन एक छोटी सी भूमिका बाँधते हैं जहाँ वे 'प्रमाण' की धारणा को प्रस्तुत करते हैं। वे प्रमाण को जीव-प्रवृत्ति मात्र में और उस प्रवृत्ति के साफल्य की ओर सहज ही उन्मुख होने में देखते हैं। यों उनके विचार में प्रमाण-बोध मनुष्य की प्रवृत्ति का ही नहीं, सकल जीव-प्रवृत्ति का अभिन्न अंग है।

पर उनकी चर्चा का विश्लेषण करें तो बात में व्यामिश्र प्रकट होता है जो प्रमाण-बोध को मनुष्य में (आत्मचेतना में) ही संभव दिखाता है।

वात्स्यायन के भाष्य के पहले ही वाक्य हैं : 'प्रमाण से अर्थ-बोध होता है, इससे प्रवृत्ति समर्थ (सफल) होती है। इसी कारण प्रमाण अर्थ-वत् होता है (अर्थ से संश्लिष्ट होता है)। प्रमाण के बिना अर्थ-बोध नहीं हो सकता, और अर्थ-बोध के बिना प्रवृत्ति समर्थ नहीं हो सकती। (कोई भी) ज्ञाता प्रमाण से ही अर्थ की उपलब्धि कर उसे पाना या छोड़ देना चाहता है। उसकी (ज्ञाता की) कुछ पाने या छोड़ देने के लिए कुछ करने की समीहा (इच्छा, अभिलाषा, एषणा) ही 'प्रवृत्ति' कहलाती है। सामर्थ्य इसीका (प्रवृत्ति का)

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

फल से सम्बद्ध होना है। समीहा करने वाला इस या उस अर्थ को पाना या छोड़ना चाहता हुआ उस अर्थ को पाता या छोड़ता है। अर्थ सुख है, सुख-हेतु है, दुःख है, दुःख-हेतु है। प्रमाण-लब्ध अर्थ अपरिसंख्येय हैं, क्योंकि प्राण-धारण करने वालों के भेद भी अपरिसंख्येय है'।[1]

स्पष्ट ही यह चित्र जीव-मात्र की प्रवृत्ति का है – जिस बात को वातस्यायन अन्त में साफ कह भी देते हैं। पर यह एक समीहा या इच्छा-चक्र की बात भी है। प्रमाण की बात यहाँ स्थानच्युत है, बनती नहीं। क्योंकि संशय, प्रश्न, जिज्ञासा का यहाँ कोई स्थान नहीं – अप्रमाण का स्थान नहीं जिसके बिना प्रमाण का प्रश्न नहीं उठता। फिर जिसे यहाँ 'अर्थ' कहा जा रहा है, उसकी इच्छा-चक्र से, प्रवृत्ति या प्रवृत्ति-साफल्य के चक्रक से अलग कोई सत्ता ही नहीं। तभी अर्थ यहाँ वस्तु भी है और उसका हानोपादान भी, दोनों परस्पर-विद्ध हैं। 'प्रमाण' वह अप्रबुद्ध इच्छा-चक्र में ही निमज्जित बोध है जो जीव-प्रवृत्ति के चलने में ही ऊह्य है। जीव-प्राण में एक ग्राह्य-ग्राहक भाव अनुमेय होता है जो अनुकूल के ग्रहण और प्रतिकूल के त्याग से प्राण-यापन (या प्राणनिष्ठ समीहा) का सामंजस्य बिठाता चलता है। इसे चाहें तो एक तरह का प्राणों में ही निगूढ़ व्याप्ति-बोध भी कह सकते हैं। पर इसे 'प्रमाण' कहना महती अतिव्याप्ति ही होगी। प्रमाण प्रमा-बोध का ही नहीं अप्रमा-बोध का भी सापेक्ष होता है, जो केवल ग्राह्य-ग्राहक भाव में नहीं, उससे हट कर उजागर होती एक और ग्राहकता – एक द्रष्टा - भाव में ही जाग सकता है। प्रमाण-बोध ग्राह्य-ग्राहक भाव से प्रत्यक् हो कर इसे देखने-परखने की क्षमता चाहता है। यह क्षमता आत्मचेतना के साथ ही जागती है। विमर्श के साथ और विमर्श-निहित सत्-असत् के द्वन्द्व के साथ।

तभी प्रमाण-बोध में सत् के साथ ही असत् की बात भी उठती है। वात्स्यायन इससे अवगत हैं। प्रमाण को जीव-यात्रा के समीहा-चक्र से परिभाषित करने के ठीक़ बाद वे प्रमाण के 'तत्त्व' की बात उठाते हैं। प्रमाण का तत्त्व यहाँ उसका अन्तःस्वरूप है। वात्स्यायन कहते हैं : 'प्रमाण के अर्थवत् (अर्थ-युक्त) होने पर प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति, ये भी अर्थवत् होते हैं। कैसे? क्योंकि इन (चारों) में एक भी हट जाये तो अर्थ की उपपत्ति नहीं होगी। इस संदर्भ में वह, जो कुछ पाना या छोड़ना चाहता हुआ प्रवृत्त होता है, वह 'प्रमाता' है। जिससे वह अर्थ को मापता है, जानता है, वह प्रमाण है। जो अर्थ यों मापा-

1. प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्। प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः। नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम्। प्रमाणेन खल्वयं ज्ञातार्थमुपलभ्य तमीप्सति जिहासति वा। तस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरुच्यते। सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्धः। समीहमानस्तमर्थमभीप्सन् जिहासन् वा तमर्थमाप्नोति जिहाति वा। अर्थस्तु सुखं सुखहेतुश्च, दुःखं दुःखहेतुश्च। सोऽयं प्रमाणार्थोऽपेरिसंख्येयः, प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वात्। –वात्स्यायन का न्यायभाष्य, प्रथम सूत्र की भूमिका।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

जाना जाता है, वह प्रमेय है। अर्थ का ज्ञान 'प्रमिति' है। इस चतुर्विध भाव में (प्रमाण) तत्त्व पूरा हो जाता है'।[1]

यहाँ 'तत्त्व' शब्द का प्रयोग परेशान कर सकता है। क्या प्रमाण-प्रमाता-प्रमेय-प्रमिति इनका परस्पर-अनिवार्यतः-बद्ध स्वरूप या व्यापार 'तत्त्व' है? प्रमाण का प्रमाण के प्रत्यय में ही निहित ढाँचा, उसका 'तार्किक' स्वरूप, जिसके बिना प्रमाण की धारणा को ही रूप नहीं दिया जा सकता – क्या यही तत्त्व है? पर ऐसा है तो चतुर्विध से अलग 'अर्थ' की बात क्यों? अर्थ तो 'प्रमेय' की धारणा में आ ही गया। वात्स्यायन अर्थ को प्रमाण-व्यापार से स्वतन्त्र चाहते हैं। उनके लिए प्रमाण का अपना 'तत्त्व' एक ओर है और 'अर्थ' दूसरी ओर, जिसे कि प्रमाण 'उपलब्ध' कराता है। लगता है कि उनका 'अर्थ' को यों अलग रखना प्रमाण को जीव-प्रवृत्ति और उसके साफल्य के संदर्भ में देखना है। पर यह ठीक नहीं। जीव के लिए अर्थ 'प्रमेय' होता ही नहीं। अर्थ वहाँ प्रमाण-व्यापार का नहीं एक प्रवृत्ति-चक्र का अंग होता है। तभी वात्स्यायन ठीक ही 'अर्थ' को वहाँ एक साथ ही सुख और सुख-हेतु, दुःख और दुःख-हेतु बताते हैं। जीव-प्रवृत्ति से अलग वहाँ किसी 'अर्थ' की बात ही नहीं हो सकती। वह तभी हो सकती है जब अर्थ 'प्रमेय' हो। पर तब बात ही भिन्न हो जाती है – बात प्रमेय के 'तत्' की या 'सत्' की भी हो जाती है : प्रमेय का स्वरूप क्या है? उसके स्वरूप का (तत् का) 'प्रमाण' क्या है? वह जैसा जाना जा रहा है, वैसा ही है या अन्यथा है? हम उसे जानने में भ्रान्त तो नहीं हैं? जानने की इस प्रक्रिया में स्वयं प्रमाण भी प्रमेय का स्थान लेता दिखता ही रहता है – यह विमर्श की अपने-आपको देखती-जाँचती प्रक्रिया ही है। प्रवृत्ति-साफल्य के लिए भी इस 'जाँच की जाँच' का प्रयोग किया ही जाता है – पर बात यहाँ प्रवृत्ति-साफल्य भर की रह नहीं जाती है। सुख-दुख की भी नहीं रह जाती।

माना कि प्रमाण-व्यापार के लिए प्रमाण-प्रमेय-प्रमिति-प्रमाता की एक-दूसरे-को स्थापित करती चतुर्विधा आवश्यक है, पर जीव के 'प्रमाता' होने का अर्थ यह भी है कि प्रमिति अपने प्रमेय को समीहागत अर्थ मात्र के रूप में नहीं, सत् के रूप में 'माप' सके। क्योंकि सत् असत् से अनुविद्ध रहता है। प्रमाण दोनों में सही अन्तर कर पा रहा है या नहीं, यह मापने का विषय हो जाता है। गौतम के जिस पहले सूत्र पर वात्स्यायन की भूमिका है, उस सूत्र में भी प्रमाण के स्वरूप को – उसके सत् को – मापने की ही एक प्रसिद्ध चेष्टा है। तभी प्रमाण के साथ वहां संशय का भी स्थान है।

---

1. अर्थवति च प्रमाणे प्रमाता प्रमेयं प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति। कस्मात्? अन्यतमापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। तत्र यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः, स प्रमाता। स येनार्थं प्रमिणोति विजानाति तत्प्रमाणम्। योर्थः प्रमीयते ज्ञायते तत्प्रमेयम्। यत्तदर्थविज्ञानं सा प्रमितिरिति। चतसृषु चैवंविधासु तत्त्वं परिसमाप्यते। –वहीं।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

वात्स्यायन जानते हैं कि जहाँ सत् के साथ असत् न हो वहां 'प्रमाण' की बात नहीं की जा सकती। अपने अगले वाक्य में वे यही दिशा लेते हैं। पूछते हैं : 'तत्त्व क्या है?' और उत्तर देते हैं : 'सत् का सत् होना और असत् का असत् होना'। आगे कहते हैं : 'सत्, सत्, अगर ऐसा यथावत्, अविपरीत ग्रहण होता रहे तो 'तत्त्व' होता है। पर साथ ही कहते हैं : 'असत् अगर असत् के रूप में यथावत्, अविपरीत ग्रहण में आये तो वह भी तत्त्व है।' पर यहाँ प्रश्न उठता है, वात्स्यायन ही प्रश्न उठाते हैं : 'असत् का असत्-रूप से ग्रहण, यह प्रमाण से कैसे होता है?'

वात्स्यायन का उत्तर है 'अनुपब्धि से'।[1] पर उत्तर यहाँ वात्स्यायन कुछ भी दें, उनके अब तक के विचार से बात साफ ही अलग दिशा ले लेती है। अनुपलब्धि निषेध-सार है – सत् के न होने की संभावना, उसका असत् हो सकना, यह उसका बीज है। निषेध की उपलब्धि – या असत् का ग्रहण – यह प्रकट ही ग्रहण के स्वातन्त्र्य का भी संकेत है, यह साफल्य-मात्र-सार प्रवृत्ति की बात नहीं हो सकती है। प्रवृत्ति के साफल्य-चक्र से निकल आने पर ही यह स्वातन्त्र्य संभव है – जहाँ प्रवृत्ति अपने से निवृत्त होकर अपनी ओर मुड़कर देख पाती है। तभी द्रष्टा-भाव के साथ मध्यस्थ भी हो पाती है – विमर्श जागता है। विमर्श में निषेध की जड़ें गहरी हैं। विमर्श-चेतना में दृष्ट के साथ दृष्ट-निवृत्त अदृष्ट की ध्वनि जागती है, तभी निषेध की बात संभव होती है – केवल दृष्ट से बँधी-घिरी चेतना निषेध या असत् का 'ग्रहण' ही कैसे करेगी? विमर्श में निषेध का प्रसार दूर तक है, और गहरा है। हम प्रमाण का भी निषेध करते हैं, और तब और भी स्फुट भाव से विमर्श के अदृष्ट की ओर बढ़ते हैं। निषेध विमर्श में निहित द्वन्द्व की, व्यावृत्ति की, धरती है। दृष्ट और अदृष्ट के बीच जागती मध्यस्थ चेतना में द्वन्द्व विमर्श में ही नहीं, प्रवृत्ति-मात्र में घर कर लेता है – पराक् और प्रत्यक् ये दो दिगन्त की तरह उभरते हैं, जहाँ सत् और असत् का विवेक, ज्ञान में ही नहीं भाव और कर्म में भी साध्य हो जाता है।

वात्स्यायन में दिख जाता है कि उन्होंने 'प्रमाण' का दो सर्वथा भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है। दोनों में भेद नहीं किया है। पहले अर्थ में– जीव-मात्र की प्रवृत्ति में – बात सत्-असत् के विवेक की है ही नहीं, यों 'प्रमाण' की भी नहीं है – बात में व्यामिश्र है। पर वात्स्यायन के व्यामिश्र के भीतर झाँकने पर जीव के प्रवृत्ति-चक्र और मनुष्य की प्रमाण-चाहती प्रवृत्ति में भूमि-भेद भी उभरता देखा जा सकता है। चेतना की प्रमाण-चाहती भूमि पर ही – जो अब प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति को भी समो लेती है – उसी भूमि पर जीव-क्रिया

---

1. किं पुनस्तत्त्वम्? सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भाव इति। सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। कथं पुनरुत्तरस्य प्रमाणेनोपलब्धिरिति? सत्युपलभ्यमाने तद्वदनुपलब्धेः प्रदीपवत्।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

'क्रिया' से हट कर 'कर्म' का भी रूप लेती है। और कर्म में भी प्रामाण्य की बात उठती है – सत् और असत् के विवेक की।

पर इस प्रामाण्य की गति 'वस्तु' के प्रामाण्य से भिन्न होती है। वस्तु के सत्-असत्-प्रामाण्य में ज्ञानेन्द्रियाँ आधार का काम करती हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य-मुखी होती हैं। हमारी चेतना ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाहर के संकेत ग्रहण करती है और उन्हें वस्तुओं के रूप में 'जानती' है। इस ग्रहण में चेतना की भूमिका कैसी और कितनी है, और 'वस्तु' की कितनी, यह प्रश्न उठता है – विचार में बार-बार उठाया जाता ही है। पर ग्रहण बाहर से ही होता है।

कर्म की गति वस्तु-ज्ञान से उलटी है। कर्म में भी इन्द्रियों का प्रयोग होता है – कर्मेन्दियों का। सत्-असत् कर्म की बात होती है, पर सत्-असत् यहाँ 'वस्तु' नहीं होती है, प्रवृत्ति ही होती है। चेतना ही होती है। चेतना की गति यहाँ भीतर से बाहर की ओर होती है (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्दियों में अन्तर करते हुए इस बात का इंगित हम पहले भी कर चुके हैं)। प्रवृत्ति में ही सत्-असत् का आयाम आ जाता है। प्रवृत्ति क्रिया से कर्म का रूप लेती है तो प्रमाण-व्यापार के घेर में भी आ जाती है।

स्पष्ट ही, ज्ञानेन्द्रियों की तरह कर्मेन्द्रियाँ यहाँ प्रामाण्य का – विवेक का – आधार नहीं हो सकतीं। प्रवृत्ति के अपने भीतर ही आधार की बात की जा सकती है – पर बात प्रवृत्ति-साफल्य मात्र की नहीं हो सकती। चेतना के ही प्रत्यक्-भाव से उभर सकती है - क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान का यहां प्रसार नहीं। अहिंसा-बोध का चेतना के अंतरिक्ष पर आ झलकना कर्म-चेतना के स्वयंप्रतिष्ठ प्रत्यक्-भाव का ही इंगित है - उसके अपने ही भीतर से उभरते उस प्रामाण्य-बोध का जो प्रवृत्ति-साफल्य से निर्बंध है। दूसरे शब्दों में, आधार यहाँ प्रज्ञा ही हो सकती है। चेतना का जो प्रत्यक्-भाव मनुष्य के व्यवहार को ही एक औचित्य-बोध का आधार देता है, वही यहाँ प्रमाण हो सकता है – प्रमाण यहाँ दृष्टमुखी नहीं, अदृष्टमुखी है। सहज ही ऐसा है।

कला में भी यही बात है। तभी मैंने कर्म के लिए नृत्त का उदाहरण लिया था। वात्स्यायन के शब्दों को लें तो यों कह सकते हैं कि 'अर्थ' (चेतना का 'अर्थित' लक्ष्य) अब सुख और सुखहेतु की ईप्सा, दुःख और दुःखहेतु की जिहासा, यही नहीं रह जाता। अर्थ इस जीव-समीहा की संकीर्णता से निकल कर एक दूसरी सार्थकता की ओर मुड़ता है। एक उपेयता का दिगन्त खुलता देख पाता है।

पर एक द्वन्द्व लिये। एक विकट द्वन्द्व लिये : प्रेय और श्रेय का द्वन्द्व। जीव-समीहा में हम एक अप्रबुद्ध प्रेय की बात कर सकते हैं, पर 'उपेय' के रूप में नहीं। सुख-साफल्य की ओर बढ़ना वहाँ सहज गति है, साध्य नहीं (उपेय नहीं)। मनुष्य में वह साध्य हो जाती है। मनुष्य के लिए प्रेय का बोध प्रबुद्ध-स्तर पर उठ आता है। तभी श्रेय और प्रेय का द्वन्द्व,

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

आत्मचेतना में आत्म के ही पराक्-प्रत्यक् द्वन्द्व के साथ उभरता है। आत्म के प्रत्यक्-बोध के साथ उसका पराक्-बोध उस-एक-ही-बोध-में उजागर हो उठता है। स्व अब अहं मात्र नहीं रहता 'अस्मि' हो जाता है, कर्त्तृत्व में बस जाता है। स्वार्थ, सुख-साफल्य, इन्हें *साध* सकता है। उसकी निसर्ग-सिद्ध जीव-समीहा अब प्रेय को *लक्ष्य* बना सकती है। पर आत्म में ही द्वन्द्व भी समा जाता है – 'स्व'- बोध के साथ ही स्व से परे जागते श्रेयस्-आत्म का बोध द्वार पर आ खड़ा होता है। आत्म की इस प्रत्यक्-मुखता को हम यों भी समझ सकते हैं : यह चेतना की प्रवृत्ति में निवृत्ति के बीज का आ समाना है। निवृत्ति में आत्मा अपनी ओर मुड़ती हुई अपने को नहीं पाती, अदृष्ट का इंगित पाती है। उसकी 'दृष्ट' साधना भी अब अदृष्ट-दिग्ध हो जाती है। प्रेय भी अब औचित्य की माँग करता है, और सुख-साफल्य में अपचित नहीं हो पाता – उसमें अपने को पराया पाता है। 'श्रेय कुछ और है' यह बोध जागता रहता है। वह मनुष्य की जातीय चेतना में ही घर कर लेता है। हमारी समष्टि-चेतना का अंग बन कर हमारी व्यष्टि-चेतना में जाग उठता है।

मैंने अहिंसा को प्रत्यक्-भाव के प्रतिभू के रूप में उभारा है। इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य अहिंस्र हो जाता है (बल्कि विपरीत होने की संभावना भी अब प्रबल हो जाती है) – पर मनुष्य के लिये प्राण अब सार्थकता की कोटि में आ जाता है। प्राण की नश्वरता ही मानो उसे जड़ से ऊपर उठा देती है। जड़ को नश्वर कहना कोई अर्थ नहीं रखता – जड़ जड़ ही रहता है। नश्वर तो प्राण होता है, पर उसमें चेतना भी होती है - अर्थवत् वही होती है। तभी हम प्राणियों में भेद करते हैं - मनुष्य को सबसे ऊपर रखते हैं। मनुष्य के प्रति सार्थकता का बोध तीव्र होता है, जहाँ आत्मचेतना रूप लेती है। मनुष्य नश्वर है, हम जानते हैं। फिर भी हिंसा में हम अनौचित्य ही नहीं, पाप भी देखते हैं – हिंसा को 'निऋति' का लक्षण समझते हैं - चाहे इस ओर प्रवृत्त भी होते हों। यह विचित्र, विरोधमयी स्थिति हममें धर्म-बोध के साथ ही जागती है : चेतना के प्रति सार्थकता का बोध, इस बोध को धर्म का मूल स्तम्भ भी कहा जा सकता है। विचित्र है, रहस्य-सा है यह बोध, सोचें तो उलटबाँसी है, पर इसका सूत्र ही हमारी कर्म-चेतना के ताने-बाने को रूप देता है।

विचित्र यह भी है कि मृत्यु का यह अद्भुत निषेध, मृत्यु-बोध के साथ ही उजागर होता है। मनुष्य से इतर जीवों में भी मृत्यु है, पर मृत्यु-बोध का वहाँ कोई *अर्थ* नहीं है - या कुछ अस्फुट सा होगा भी (कहते हैं हाथी अपने मृतकों का समादर-सा करते हैं)। पर हममें मृत्यु-बोध के साथ ही अमरत्व का बोध आ समाता है - यह चेतना के ही अमरत्व का बोध है। यह बोध प्राण के प्रति श्रद्धा जगाता हुआ जागता है। और इसी श्रद्धा की धरती पर हमारा अन्य के साथ अन्योन्य-भाव घर करता है। हमारा दृष्ट का बोध अब कितना ही अदृष्ट-निराकरण का रूप ले, हममें प्राणि-लोक के प्रति – विशेषकर मनुष्य के प्रति – एक अर्थमयी चेतना जागने लगती है। तभी हमारा लोक अर्थ-लोक बन जाता है। अदृष्ट के साथ जो उपेयता का बोध जागता है उसमें यह एषणा जागती है (यह 'पुरुषार्थ' जागता है) कि

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृष्ट को ही एक सार्थक अदृष्ट की ओर ले चलें। समष्टि की धरती पर हम इसका संदेश पाते हैं। समष्टि-कर्म में अन्तर्निहित औचित्य-बोध उपेयता के वैविध्य में बसता हुआ भिन्न दिशायें ले सकता है, लेता ही है, पर कोई भी दिशा ले, मनुष्य में अर्थ-काम अब केवल अर्थ-काम नहीं रहते, धर्म से अनुविद्ध हो जाते हैं। नियमों के रूप में उभरते हैं, जिसे धर्म के रूपायण का सहज उपाय, माध्यम - या नीति - कह सकते हैं। यह भाषा ही की तरह अपृथक्-प्रयत्न-सिद्ध ही नहीं विविध होती है, पर मनुष्य की रहनी से भी अपृथक् होती है। गीता में जो प्रजा के 'सहयज्ञ' सृष्ट होने की बात है, उसकी यही व्यंजना जान पड़ती है। उसे 'अपूर्व विधि' कहने में भी यही व्यंजना है।

यहाँ कई तीखे-पैने प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं। इसलिए भी कि ऊपर के चित्र से कन्फ्यूशियस के उस आदर्श की बात याद आ जाती है जहाँ वे मनुष्य-समाज को एक सुछंद, सुषम, सहनृत्त के रूप में देखते हैं। पर यथार्थ इसके विपरीत है। मनुष्य में औचित्य-बोध है – माना। मनुष्यता में ही निहित है – यह भी माना। उसका रिलिजन से सम्बन्ध भी, चलिए, किसी रूप में मान लिया जा सकता है। पर उसे 'अपूर्वविधि' कहने के साथ ही वैषम्य जागता है। क्योंकि ऐसा कहने से लगता है कि वह सर्वांग रूप से सुष्ठु है, उसका गुंफ अनवद्य ही नहीं ऋत-मय, आनन्द-सार है। स्पष्ट ही, ऐसा कुछ है नहीं। हमने जिसे मनुष्य में – मनुष्यता में – स्वतोजात, 'स्वयंभू', विधि कहा, जो नियम-व्यवस्था में रूप लेती है, 'नीति' कहला सकती है, उस नीति के छन्द में छन्द-पतन ही आधार-भूत दिखता है। दण्ड के बिना नीति नहीं होती। व्यवस्था बनाये रखने के लिए मनुष्य स्वाच्छंद, आनन्द-नृत्य नहीं करता है, नियन्त्रण करता है, दण्ड देता है। दण्ड की जड़ें मनुष्य की उस 'आद्य' अवस्था तक जाती दिखती हैं जहां रिलिजन का उदय होता है। यह भी सोचिये कि मनुष्यता मनुष्य-व्यक्ति में ही रूप लेती है, और अगर मनुष्य-व्यक्ति को दंड-भय से बांध रखना पड़े, वह अपने स्वैर छंद में स्वेच्छा से न ढल सके तो जिस 'नीति' की हम बात कर रहे हैं, वह पशु-व्यवहार की निसर्ग-गति से हीनतर नहीं है क्या? चींटियों में, मधुमक्खियों में, तो नीति की बात बेमानी होगी, वहाँ व्यवस्था औचित्य-बोध के साथ नहीं बनती, पर वहीं व्यवस्था में वह गुंफ का निर्दोष गठाव भी दिखाई देता है जिसे हम मनुष्य होते ही खो बैठते हैं। यों धर्म किसी 'अपूर्व विधि' का सौषम्य नहीं, उलटे व्यवस्था में ही वैषम्य का बीज जान पड़ता है। मनुष्य के आविर्भाव के साथ बात किसी सुबद्ध, सुवलयित व्यवस्था की नहीं होनी चाहिए, निसर्ग-से-चली-आती व्यवस्था में छिद्र की, भंग की बात होनी चाहिये। मनुष्यता के साथ मनुष्य-व्यक्ति में अपना स्वतन्त्र-छंद ढूँढने की ललक जागती है तो वह किसी भी सहनृत्त से हटना चाहता है, उसमें डूबना नहीं।

रूपकमयी भाषा को छोड़िये तो प्रश्न व्यक्ति और समष्टि के विरोध का है। आधारगत प्रश्न स्वातन्त्र्य को लेकर भी उठता है : स्वतन्त्र, आत्मचेतन, *व्यक्ति* होता है और ऐसा व्यक्ति अपने स्वातन्त्र्य में ही किसी नियम का स्वेच्छा से अंगीकार कर सकता है – उससे

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

इनकार भी कर सकता है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के साथ किसी समष्टि-व्याप्त 'विधि' का या मनुष्य में सहजात नियम-नीति का क्या सामंजस्य? यों भी हम पाते हैं कि औचित्य का बोध किसी नियम या नीति के विरोध में ही गहराता है। थोड़ा और बात की तह में उतर कर देखिये तो नियम, नीति, ये स्वातन्त्र्य के ही मूल बैरी – आधारगत विरोधी – जान पड़ते हैं : नियम, नीति, ये रूढ़ियाँ बनाते हैं जो प्रकृति के ही जड़ नियम की अनुवृत्ति या अनुकृति जैसी है। स्वातन्त्र्य की बात ही अगर धर्म की बात है, तो फिर वहाँ किसी नीति की बात हो ही नहीं सकती।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

काश्मीर शैव दर्शन : आधारभूत अवधारणा और प्रतिमानक के रूप में प्रत्यभिज्ञा की भूमिका

(गतांक से आगे)

नवजीवन रस्तोगी

सिद्धान्त, ज्ञान, अवधारणा, व्यापार

प्रत्यभिज्ञा का तीसरा प्रयोग प्रत्यय या अवधारणा के अर्थ में हुआ है। इस अर्थ में इसे प्रत्यभिज्ञा का फल तथा प्रक्रिया दोनों का सैद्धान्तिक उन्मीलन भी कहा जा सकता है। इस तरह प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के लिए भी प्रयुक्त हुई है और प्रमा के अर्थ में भी। आदिश्लोक की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा के इस रूप को मध्यप्रयोजन[79] के रूप में प्रस्तुत किया है। देखा जाए तो विश्लेषणात्मक सन्दर्भों की दृष्टि से यह अर्थ सबसे अधिक प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण है। प्रत्यभिज्ञा दार्शनिकों के सामने कई तरह की चुनौतियाँ थीं। ऐतिहासिक सन्दर्भ में मुख्य चुनौती थी बौद्धों के संशयवाद की।[80] उसका सामना करने के लिए तरीका था –निरन्वय धर्म का निषेध करना और धर्मी या सान्वय प्रदत्त की उपपत्ति करना और इस प्रकार संशय के औचित्य को ही नकार देना, जैसा कि योगभाष्यकार ने किया।[81] इस तरीके का उपयोग नव्यन्याय के पूर्व के आस्तिक दर्शनों ने सामान्यत: किया। लेकिन काश्मीरियों ने इससे भिन्न तरीका अपनाया जो यौक्तिक न होकर अन्त:संरचनात्मक था। वह था शक्ति के माध्यम से शिव के जगत्तया अवतरण और जगत् के शिवतया आरोहण के केन्द्रीय मिथक की आत्म-प्रत्यभिज्ञानरूप प्रक्रिया की शब्दावली में व्याख्या। चुनौती का दूसरा आयाम दार्शनिक था और उसका परिप्रेक्ष्य अपेक्षाकृत बड़ा था, जिसमें निगम, आगम, आस्तिक दर्शन और विज्ञानवाद शामिल थे। इस सन्दर्भ में, जैसे सूर्य पृथ्वी के सारे रसों और वर्षा के जलों का बीज से ऐसे समन्वय करता है जिससे पुष्ट अन्न उपज पाता है।[82] ठीक उसी प्रकार की तमाम प्रत्ययों के मध्य अन्योन्यान्वयी आन्तरिक संरचना के केन्द्रीय आधार के रूप में आत्मा के स्वरूप का अनुसंधान करना उनकी दूसरी प्राथमिकता थी।[83] यही कारण था कि अपने अद्वयवाद को समझाने के लिए उन्होंने पूर्णता और सामरस्य जैसे प्रत्ययों का सहारा लिया। इससे जन्मी एक उपचुनौती यह थी इस पूर्णतामूलक संरचना को एक साँचागत (कॉन्स्टिट्यूटिव मॉडेल) प्रारूप का रूप देना, जिसमें ढलकर अवान्तर और अंतर्व्याप्त संरचनाएँ इस प्रकार से विकसित हों कि उनकी वैयक्तिकता भी बनी रहे और उस वैयक्तिकता को वे गतिशील सत्य की उच्चतर और व्यापकतर योजना में अपनी निरन्तर भागीदारी से प्राप्त करें। इसके लिए प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय से उपयुक्त दूसरा प्रत्यय नहीं हो सकता था, यह आगे की विवेचना से स्पष्ट होगा।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

चार्वाक, निम्बार्क तथा माध्व सम्प्रदाय, जो प्रत्यभिज्ञा की चर्चा प्रमातृसिद्धि के लिए नहीं करते, को यदि छोड़ दिया जाए तो भारतीय दर्शन के प्राय: सभी सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में प्रत्यभिज्ञा के महत्त्व को स्वीकार करते हैं।[84] अद्वैत वेदान्त में प्रत्यभिज्ञा का नामत: अभ्युपगम नहीं हुआ है पर अखण्डार्थप्रतिपादक वाक्यों में बोध की प्रकारता प्रत्यभिज्ञात्मक ही है। उसे स्वतन्त्र प्रमाण की मान्यता केवल जैनों में ही मिली है। अन्यत्र प्रत्यभिज्ञा किसी न किसी प्रमाण या ज्ञानात्मक प्रकार में अन्तर्भूत हुई है। प्रत्यभिज्ञा में यह प्रक्रिया पलट गयी है। यहाँ सारे प्रमाणों में प्रत्यभिज्ञानात्मकता को अंतस्स्यूत माना गया है। इस दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा दर्शन बौद्धों और भर्तृहरि के निकट है, क्योंकि बौद्ध भी प्रत्यभिज्ञा को सांवृत ज्ञान का प्रागनुभविक सामान्यीकृत प्रकार मानते हैं। भर्तृहरि एक कदम आगे जाते हैं। वे सारी बोध-प्रक्रिया को प्रत्यभिज्ञानात्मक मानते हैं, परन्तु उनके यहाँ यह प्रत्यभिज्ञानात्मकता शब्दन तक सीमित है। प्रत्यभिज्ञावादियों को मूल प्रेरणा भर्तृहरि से मिलती है पर इसका अतिक्रामी और सर्वग्रासी विस्तार प्रत्यभिज्ञावादियों का अपना है, जो इसे परम तत्त्व की स्वरूप परिघटना और मोक्ष के प्रत्यय तक ले जाते हैं। उस पक्ष पर हम कुछ समय बाद विचार करेंगे।

प्रत्यभिज्ञा का शाब्दिक अर्थ है पहचानना। अर्थात् प्रत्यभिज्ञा में जानने का अभिप्राय अनिवार्यत: पहचानने से है। मोटे तौर पर पूर्वप्रत्यक्ष या ज्ञात वस्तु का उसी व्यक्ति द्वारा प्रत्यक्षीकरण या ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। पूर्व प्रत्यक्ष का स्मरण और वर्तमान में उसका प्रत्यक्ष अर्थात् प्रतिरूपक और साम्प्रतिक अंशों के साथ योग होने से यह ज्ञान निष्पन्न होता है। प्रत्यभिज्ञा सम्बन्धी प्रमाणात्मक चिन्तन की तीन कोटियाँ हैं। 'यह वही घड़ा है' इस ज्ञान को एक मानना यह पहली कोटि है। इस वर्ग का प्रतिनिधि दर्शन न्याय है। ज्ञान को एकतामूलक मानने का कारण है ज्ञान के दो कालों से विशिष्ट होने पर भी विषय की एकता। देश और काल-गत भेद के कारण स्मृत्यंश और प्रत्यक्षांश को पृथक् मानने वाले बौद्ध दार्शनिक इसे दो ज्ञान मानते हैं। यह दूसरी कोटि है। दो ज्ञान क्रमश: दो पक्षों का संकेत करते हैं। दोनों अंशों में सादृश्य के कारण होने वाला ज्ञान बुद्धिविकल्प मात्र है। तीसरी कोटि प्रत्यभिज्ञावादियों की है,जो इसे उभयात्मक या उभयज मानते हैं और अतीत तथा वर्तमान में एकता के लिए एक खास प्रक्रिया 'उभयमेलनात्मक प्रक्रिया' का आश्रय लेते हैं। हम यथावसर देखेंगे कि प्रत्यभिज्ञा आचार्यों के लिए यह प्रक्रिया कितने महत्त्व की है।

आगे बढ़ने के पूर्व अच्छा होगा कि हम सम्प्रदाय द्वारा प्रत्यभिज्ञा के सन्दर्भ में प्रयुक्त आधारभूत पदावली तथा उनकी निरुक्तियों पर एक नज़र डाल लें।[85] प्रत्यभिज्ञा की धारणा का विशदन सामान्यत: तीन पद समूहों द्वारा हुआ है। पहला है, **अभिज्ञा पद समूह**।[86] यह साक्षात् प्रत्यभिज्ञान का वाचक है और सामान्यत: प्रति उपसर्ग लगाकर इसका प्रयोग करते हैं। परि उपसर्ग के साथ भी (परिज्ञान) इसका प्रयोग मिलता है।[87] दूसरा है, **मृश् पदसमूह**। मृश् धातु का शाब्दिक अर्थ है स्पर्श करना। विभिन्न उपसर्गों के साथ हमें विमर्श, परामर्श, प्रत्यवमर्श, आमर्श, अवमर्श आदि शब्दों की एक पदमाला प्राप्त होती है जिनका सामान्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अर्थ है आंतर शब्द या विचार से पदार्थ का स्पर्श अर्थात् विचार की ऐसी प्रक्रिया जो कहीं गहरे जा कर पदार्थ के अस्तित्व को प्रभावित करती हो। स्वयं पहले पदसमूह से इसका अन्तर इस अर्थ में है कि ये शब्द पहले से अन्य सन्दर्भों में भारतीय दर्शन में प्रयुक्त होते आ रहे थे पर काश्मीर शिवाद्वयवाद में इनका प्रयोग विचार, शब्दन, बोध, जिनकी संघटना प्रत्यंभिज्ञानात्मक है, के अर्थ में हुआ है। भर्तृहरि में प्रत्यवमर्श शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[88] बौद्ध न्याय के पुरोधा स्वयं धर्मकीर्ति ने प्रत्यवमर्श का प्रयोग प्रत्यभिज्ञान के अर्थ में किया है।[89] कई बार परामर्श या प्रत्यवमर्श की व्याख्या भी प्रत्यभिज्ञान पद से की गयी है, कभी साक्षात्[90] तो कभी दृष्टान्त के माध्यम से।[91] ध्यान देने की बात है कि अभिनव विमर्श की व्याख्या 'तम के अपसारण द्वारा स्फुटीकरण'[92] के माध्यम से करते हैं। व्यवहारसाधन के रूप में प्रमाण का भी यही काम–**तमोऽपसारणम्**–हमने देखा था। इस बात की व्यंजना दूरगामी है, क्योंकि यदि प्रकाश, जिसका स्वभाव विमर्श है, की कल्पना हमने स्वच्छता या निर्मलता (अर्थात् मलाभाव)के अर्थ में की है और विमर्श का काम तम का अपसारण है तो प्रकाश और विमर्श का नैसर्गिक तादात्म्य अपने आप स्फुटित हो जाता है। तीसरा पद समूह है–**संधान (सम्+धा) पद समूह**। यहाँ पर भी भिन्न उपसर्गों के योग से हमें अनुसंधान, प्रतिसंधान, अभिसंधान आदि अनेक शब्द प्राप्त होते हैं।[93] ज्ञानात्मक संदर्भों में इस शब्द का प्रयोग भारतीय दर्शन में अपरिचित नहीं है। न्याय में अभिसंधि, प्रतिसंधि, प्रतिसंधान इनका प्रयोग खूब हुआ है, विशेषतः उपनय, लिङ्गपरामर्श आदि के सन्दर्भ में। प्रत्यभिज्ञादर्शन में इसका प्रयोग प्रत्यवमर्श, एकीकरण, स्मरण, योजन, अभिमुखन और प्रत्यभिज्ञान के अर्थ में हुआ है।[94] देखने की बात है कि ये सारे प्रयोग एक वर्ग के हैं और सातत्य, अनुवर्तन, एकीकरण बताने के लिए इनका प्रयोग हुआ है। अनुसंधान को एक पारिभाषिक शब्द के तौर पर अभिनवगुप्त विकसित करते हैं और सौन्दर्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसका जमकर प्रयोग करते हैं। प्रक्रिया के तौर पर इसे पूर्वचर्चित 'उभयमेलन प्रक्रिया' से जोड़ते हैं और इसका प्रधानतम अर्थ प्रत्यभिज्ञान लिया गया है। इसके उलटे **विरूपाक्ष-पंचाशिका** प्रत्यभिज्ञा के लिए अनुसंधान या अनुसंहिति का ही प्रयोग करती हैं।[95] यद्यपि अनुसंधान के प्रत्यय पर हम आगे विचार करेंगे, यहाँ एक प्रश्न पर अवश्य ध्यान दे लें। प्रश्न है कि सम्प्रदाय या सिद्धान्तवाची संज्ञा के लिए अनुसंधान की तुलना में प्रत्यभिज्ञा शब्द के प्रति उत्पल की परम्परा का इतना मोह क्यों है? पहली बात तो यह समझ में आती है कि अनुसंधान के अनेक अर्थ हैं जबकि प्रत्यभिज्ञा का एक ही अर्थ है, अतः अपनी पहचान बताने के लिए प्रत्यभिज्ञा अधिक स्पष्ट है। दूसरे, अनुसंधान मुख्यतः प्रक्रियावाचक शब्द है जब कि प्रत्यभिज्ञा प्रक्रिया से अधिक है–वह व्यापार, फल और मूल्य तीनों ही है। इन पदसमूहों के अतिरिक्त एक आन्तरालिक या अवान्तर पद समूह और भी है जिसमें जात्या तो एकरूपता नहीं है पर अर्थ की दृष्टि से साजात्य है। उसमें एक प्रकार से मध्यवर्ती प्रत्यय आते हैं जिनमें प्रत्यभिज्ञा की अर्थच्छाया दिखाई देती है। इस भाँति **प्रतिभा** को प्रकाश और विमर्श के, **स्फुरत्ता** को प्रकाश और स्पन्दन के और **भास**

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को भासन (प्रकाश) और भान (विमर्श) के आन्तरालिक प्रत्यय के रूप में लिया जा सकता है, जो प्रसंगभेद से दोनों अर्थों में दोलारूढ है।

प्रत्यभिज्ञा की आर्थिक निरुक्ति के व्याज से प्रत्यभिज्ञा आचार्यों ने एक प्रकार से उसकी पद-मीमांसा (हर्मेन्यूटिक्स) भी विकसित कर ली है, उससे संक्षिप्त साक्षात्कार प्रासंगिक भी होगा और अवबोधक भी। सामान्यत: भारतीय दर्शन में प्रत्यभिज्ञा के दो अवयव माने जाते हैं – प्रति+अभिज्ञा, और संस्कारसहकृत प्रत्यक्ष के एक भेद को बताने के लिए उसका प्रयोग होता है।[96] काश्मीर शैवदर्शन में इसके तीन अवयव माने गए हैं–प्रति+अभि+ज्ञा,[97] और इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा शब्द की सामान्येन व्याख्या होती है–पलटकर (**प्रति**) सामने आने पर (**अभि**) प्रकाशित होना (**ज्ञान**)।[98] इनमें से प्रत्येक अवयव को स्वतन्त्र रूप से लेने पर हम देखते हैं कि 'प्रति' का अर्थ है 'प्रतीप' अर्थात् पलटा हुआ। पलटकर आने की स्वाभाविक स्थिति है–सामने आना। यह प्रयोग लगभग ठीक उसी अर्थ में है जिस में 'प्रत्यक्' का प्रयोग 'प्रत्यक्चिति' में हुआ है।[99] इसके अतिरिक्त जिन अन्य चार अर्थों में प्रति का प्रयोग हुआ है वे हैं–अनुसंधान,[100] आभिमुख्य,[101] आन्तर्य[102] और प्रत्यावृत्ति।[103] आपाततः इन सबके अलग-अलग अर्थ हैं पर थोड़ा सा विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट दीखने लगती है कि इन सारे अर्थों में प्रत्यभिज्ञावित् क्रमिक तरतमभाव ढूँढ लेते हैं। पूर्वानुभव के विषय की फिर से प्रत्यावृत्ति होने अर्थात् लौटने पर वर्तमान में उसके अभिमुख होने पर पूर्व और वर्तमान का अनुसंधान एक आन्तरिक विमर्श को जन्म देता है–'यह वही देवदत्त है।' यद्यपि इस बोध में आन्तर अवमर्श का प्रत्यायक कोई शब्द नहीं है, फिर भी सारे ज्ञानों की आत्मविश्रान्ति हुए बिना कोई भी ज्ञान आकार नहीं ग्रहण कर पाता, अत: 'मैं जानता हूँ' या 'मैं जान गया हूँ' यह विषयिगत चेतना तो रहती ही है। प्रत्यभिज्ञा के सन्दर्भ में प्रतीप का - वापसी का - भाव अत्यन्त उल्वण (स्पष्ट) है। इसलिए 'प्रतिभा' (प्रति+भा) में भी प्रति की व्याख्या कभी-कभी प्रतीप की शब्दावली में की गयी है।[104] इस प्रकार प्रतीप→प्रत्यावृत्ति→आभिमुख्य→अनुसंधान→आन्तर्य, यह क्रम सहज ही ढूँढा जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञा का दूसरा अवयव है 'अभि'। यद्यपि प्रति में ही हमने आभिमुख्य को गतार्थ देखा था, पर इसकी विशिष्ट अर्थवत्ता को देखते हुए अभि की व्याख्या सामान्यतः, प्रति से अलग, **अभिमुख** के अर्थ में की गयी है।[105] यों तो जैसाकि हम देख चुके हैं कि प्रतीप अर्थात् लौटने या पलटने की सहज परिणति विषय के प्रति अभिमुखता है–लौटकर हम विषय के आमने सामने होते हैं। पर यह केवल यान्त्रिक या प्रतिस्फूर्त प्रतिक्रिया ही नहीं है, इसमें सामने का विषय पूरी तरह से आलोक परिदृश्य में होने के कारण हमारी धारणा के केन्द्र में होता है।[106] अत: परिणमनीय ज्ञान की प्रकृति विशुद्ध रूप से अव्यवहित होती है जिसमें विषयी और विषय का किसी भी आगन्तुक उपाधि की परवशता से मुक्त रहने के कारण तादात्म्य सहज होता है।[107] यह बात और भी स्पष्ट होती है अभि अर्थात् आभिमुख्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

को दिये गए तीन अन्य अर्थों से। एक अर्थ **हृदयंङ्गमीभाव** है।[108] ज्ञात जब मोह या विस्मृति के कारण हमारे लिए अज्ञात सा हो जाता है, उसका फिर से सामने होना सिर्फ एक मानस व्यापार ही नहीं होता, उसमें हृदय का आश्वासन, एक प्रकार बोध से होने वाली हार्दिकता भी होती है। इस अर्थच्छाया को अभिनवगुप्त समावेश की अवधारणा में उपयोगी पाते हैं।[109] दूसरा अर्थ है **स्फुटता**। भूला हुआ जब सामने फिर से आता है तो वह हमारी चेतना में स्मरण के विषय की तरह नहीं अपितु प्रत्यक्ष द्वारा स्फुट विषय के रूप में गृहीत होता है।[110] स्फुटता के कारण ही 'यह वही है' इस प्रकार उस ज्ञान की अनपह्नवनीयता का ख्यापन होता है।[111] तीसरा अर्थ है **स्वरूपसर्वस्वस्वीकार**, अर्थात् विषय का उसकी सम्पूर्णता में ग्रहण।[112] इस अर्थ में काश्मीर शैवदर्शन में ज्ञान की अनुसंधानमूला प्रकृति को भारतीय दर्शन की अध्यवसायमूला प्रकृति से अलग करके देख पाने का आधार मिलता है।

तीसरा अवयव है 'ज्ञान'। इसका प्रसिद्ध अर्थ है प्रकाशन या ख्यापन। ज्ञान के प्रमाण रूप में प्रत्यभिज्ञा[113] की चर्चा सबसे पहले सोमानन्द करते हैं।[114] उनके अनुसार एक पक्ष के प्रत्यक्ष (दृष्टता) से वस्तु की पूर्व दृष्ट सारी विशेषताओं का स्मरण प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। यह विविधता भरा विश्व शिव में ही प्रतिष्ठित है और उसी एक विशेषता का दर्शन शिव के समग्र स्वरूप का स्मरण कराता है। इस तर्क का प्रयोग वह बौद्धों के विरुद्ध पदार्थों की आन्तरिक एकता या ज्ञानों के एकीकरण की सम्भावना को प्रदर्शित करने के लिए करते हैं। एक के दर्शन से सबका बोध, यह युक्ति सोमानन्द की सर्वशिवता को स्थापित करने में सहायक होती है।

प्रत्यभिज्ञा की दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठा और अवधारणा के अंकुरण में वास्तविक योगदान उत्पल का है। यह अवश्य विचित्र लगता है कि वह प्रत्यभिज्ञान की कहीं परिभाषा नहीं करते। दूसरे, उनका आग्रह पारमार्थिक अधिक है, अपेक्षया ज्ञानमीमांसा के। आदिश्लोक में **'प्रत्यभिज्ञापयामि'** में प्रयोजक व्यापार का अर्थ है जिज्ञासु को परमार्थ लाभ कराकर तोष पाना।[115] तीसरी कारिका[116] में वह प्रत्यभिज्ञा का अर्थ लेते हैं दृढ़निश्चय।[117] ज्ञान है निश्चय और उसमें दृढ़ता का अंश प्रत्यभिज्ञा की देन है। उत्पल के अनुसार व्यवहार में होने वाले हमारे अशुद्ध अनुसंधानमूलक बोध (जो मैं मोटा था वही अब दुबला हो गया है—जहाँ 'मैं' का ग्राह्य 'देह' है न कि आत्मा) भी, जो आपाततः अहंविमर्शमूलक होने के कारण विकल्प नहीं लगते, वस्तुतः विकल्प हैं। परन्तु यह विकल्प भी प्रमातृव्यापार होने के नाते प्रत्यभिज्ञा ही है।[118] इस प्रकार उत्पल का संकेत प्रत्यभिज्ञा को ज्ञान का सामान्यीकृत प्रकार मानने में है। परन्तु देह, बुद्धि आदि बाह्य और विच्छिन्न प्रमाताओं की कल्पना प्रमाता की वास्तविक प्रत्यभिज्ञा नहीं है। वास्तविक प्रत्यभिज्ञा तो शुद्ध विद्या या विद्याशक्ति के द्वारा ज्ञानक्रियारूप ऐश्वर्य का अभिज्ञापन है।[119] यहाँ पर उत्पल अभिज्ञा या अभिज्ञापन शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रसंग में उत्पल माया शक्ति और विद्या शक्ति का अन्तर पहले ही बता चुके हैं। माया शक्ति वह है जो व्यक्ति के स्वाभाविक ऐश्वर्य को ढँक देती है, जबकि विद्या बंधन की स्थिति में भी उस ऐश्वर्य का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनावरण करती है।[120] उत्पल का संकेत है कि सांसारिक स्थिति में भी मोक्ष की सम्भावना वास्तविक और प्राप्य है। प्रत्यभिज्ञा के द्वारा इस प्रकार प्राप्य फल अपनी कोटि का एक ही है—वह 'अपूर्व' है।[121] यहाँ प्रत्यभिज्ञा को समझने के लिए उत्पल ने एक दृष्टान्त दिया है : एक नायिका ने अपने प्रिय नायक की अत्यन्त प्रशंसा सुन रखी थी। बड़ी मनुहार से जब वह उसके पास आया तो पास खड़ा रहने पर भी, सुने हुए गुणों के दिखाई न देने के कारण वह उसे साधारण लोगों जैसा ही लगा। फलतः उसके साथ वह रमण का आनन्द न ले सकी। जब सखियों ने उसके गुण बताते हुए उस नायक की पहचान कराई तो युवती को अपूर्व आनन्द मिला। ठीक वैसे ही हमारा यह आत्मा, जो सारे संसार का स्वामी है, उसके गुण भी जब लोग देख नहीं पाते तो उसका ऐश्वर्य भी प्रकट नहीं हो पाता। इसीलिए इस प्रत्यभिज्ञा का प्रतिपादन उसकी पहचान कराने के लिए किया जा रहा है।[122] इस दृष्टान्त का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि यह एक प्रकार की जटिल प्रत्यभिज्ञा है। क्योंकि अतीत और वर्तमान, प्रतिरूपक और साम्प्रतिक अंश का एकीकरण यहाँ अवश्य है पर अतीत अनुभव प्रत्यक्षात्मक नहीं है, अपितु सूचनाओं पर आधारित बुद्धि निर्मित या मानस चित्र है। वर्तमान अनुभव के दो अंश हैं। अंशतः वह प्रत्यक्षात्मक है और अंशतः दूतीवचन या लक्षण बताने वाले अन्य उपायों द्वारा प्रयोजित अर्थात् सूचनात्मक है। अर्थात् प्रत्यभिज्ञान स्मृति-चित्र, मानस-प्रतिमा के परवर्ती विषय की तुलना से भी सम्भव है। जब हम स्वात्मा-रूप इस दृष्टान्त को दार्ष्टान्तिक अर्थात् ईश्वर में लगाते हैं तो हम देखते हैं कि यद्यपि ईश्वर को हमने आगम, श्रुति, पुराण आदि सभी से जान रखा है, फिर भी इस सूचना से वह परमेश्वर पूरी तरह से हमारे मन में भासकर हमें तृप्ति नहीं देता। परन्तु गुरुवचन, शास्त्र या उसकी शक्ति आदि की पहचान से जैसे ही परमेश्वर का ऐश्वर्य भासित होता है उसी समय उसका प्रत्यभिज्ञान हो जाता है। अभिवगुप्त के शब्दों में वह क्षण पूर्णतात्मिका जीवन्मुक्ति का है।[123] इसके पूर्व उत्पल एक और प्रत्यभिज्ञात्मक अनुभव की चर्चा कर चुके हैं, जिसमें समस्त सृष्टि का प्रत्यभिज्ञान 'यह सब मेरा वैभव है' इस प्रकार आत्मधर्मतया होता है।[124] यहाँ विकल्पों का विमर्शीकिरण होता है। यहाँ उत्पल प्रत्यभिज्ञा में नया आयाम जोड़ते हैं। वह प्रत्यभिज्ञान के पर्याय परिज्ञान (**परिजानतः**) को आवेश के प्रत्यय से समीकृत करते हैं।[125] इस प्रत्यय की दिशा महेश्वर की ओर से विश्व के आवेशन की है जबकि कारिकाओं के अन्त में दिशा आत्मा की ओर से शिव के आवेशन की है।[126] उत्पल यहाँ जोर देकर कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा का एकमात्र प्रयोजन शिवता की उपलब्धि करना है।[127] पर इस बिन्दु का सम्बन्ध हमारे वक्तव्य के अगले चरण से है। हम तभी इस पर विचार करेंगे।

हमने अभी कुछ देर पहले देखा था और आगे भी अपने अध्ययन-प्रसंग में यह बात देखने को मिलेगी कि अभिनवगुप्त ने प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय में अनुसंधान की अवधारणा को केन्द्रीय माना है।[128] परन्तु उत्पल में ऐसा प्रयत्न नहीं मिलता, कम से कम आपाततः तो नहीं। अनुसंधान का उत्पल दो अर्थों में प्रयोग करते हैं—एकप्रत्यवमर्श[129] और

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अन्योन्यविषयसंघट्टना।[130] ऐक्य की व्याख्या भी वे अनुसंधान[131] और अन्योन्यान्वयरूपता की शब्दावली में करते हैं। इस प्रकार ऐक्य और अनुसंधान में परस्पर विनिमय सम्भव है। ऐक्य सरल एकता न होकर विविधता में पारस्परिक अनुप्रवेश है। इससे प्रत्यभिज्ञा की निकटता तो प्रतीत होती है, पर दोनों की एकता अनुमानगम्य ही कही जाएगी। हम दिखा चुके हैं कि उत्पल के एकप्रत्यवमर्श को प्रत्यभिज्ञान के अभिप्राय में ग्रहण किया जा सकता है, पर यह भी व्याख्यासह है। कम से कम उत्पल साक्षात् कुछ नहीं कहते।

उत्पल ने जो नहीं कहा या जो कहने से रह गया उसको कहने की जिम्मेदारी अभिनवगुप्त पर आयी। प्रत्यभिज्ञा की अवधारणा के विकास में उनका अवदान असामान्य महत्त्व का है। प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणमीमांसा को विकसित करना, प्रत्यभिज्ञा का परार्थानुमान के रूप में पल्लवन, प्रत्यवमर्श, अनुसंधान और प्रत्यभिज्ञान की पारस्परिकता को एक व्यवस्थित समंजस रूप देना, सन्मीमांसा और परमार्थमीमांसा के साथ उनकी संगति बैठाना और प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सभी उपप्रत्ययों को प्रत्यभिज्ञात्मक संरचना का अंग बनाना, तान्त्रिक साधना के मूलाधारों के साथ उसकी अन्विति ढूँढना और दर्शनेतर कला, काव्य इत्यादि क्षेत्रों में इसका सार्थक और उर्वर विनियोग करना और अन्तर्व्याप्त संरचनात्मक और मूल्यात्मक एकसूत्रता का निष्पादन करना अभिनवगुप्त की महती मेधा की ही क्षमता थी। आगे के सारे प्रतिपादन में अभिनवगुप्त हमारे उपजीव्य रहेंगे।

हम थोड़ा पीछे लौटते हैं। तीनों अवयवों को समन्वित करके अर्थ निकलता है कि वस्तु का फिर से (प्रति) सामने आने पर (अभि) जानना या पहचानना (ज्ञान) प्रत्यभिज्ञा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भात का भासमान से एकीकरण प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञान तभी सम्भव है जब वस्तु के दो क्षणों के मध्य ज्ञानसम्बन्ध, चाहे जिस भी कारण से हो, टूट जाए। इस विच्छिन्नता को मोह या विस्मृति कहा जाता है। इस प्रकार यह अनुसंधान या एकीकरण ही प्रमेय विषयक मोह का अपसारण है।

एकीकरण की यह प्रक्रिया एक ही अधिकरण पर घटित होती है। इन्द्रियसन्निकर्ष और संस्कारोद्बोध दोनों ही इसमें कारण हैं। दर्शन और स्मरण के अन्तर्मुख परामर्श से अभिन्नविषयता का जन्म होता है। यही प्रमा है।[132] अभिन्नविषयता का अर्थ विषयों का एकीकरण नहीं है, अपितु दो ज्ञानों का मिलन है। इसीलिए हम जैसाकि पहले संकेत कर चुके हैं, यहाँ इस प्रक्रिया को उभयमेलनात्मक प्रक्रिया कहा गया है।[133] प्रश्न है कि परवर्ती अनुभव के समय प्रत्यक्षीकृत वस्तु का स्वरूप क्या है? यदि वह विगत अनुभव का विषय मात्र है तो प्रत्यभिज्ञा और स्मरण में कोई भेद नहीं रहेगा, और यदि वह एक साम्प्रतिक घटनामात्र है तो प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञा में कोई अन्तर नहीं रहेगा। पर ऐसा नहीं है, क्योंकि इसमें भूत में घटित का संस्कार भी है। अतः प्रत्यक्ष और स्मृति को एक-दूसरे में विगलित नहीं किया जा सकता। प्रत्यभिज्ञा सरल वृत्ति न होकर जटिल वृत्ति है। **विरूपाक्षपंचाशिका** के वृत्तिकार विद्याचक्रवर्ती ने इसे बहुत अच्छे ढंग से समझाया है। पदार्थ का ज्ञान यहाँ न्याय की भाँति दो कालों से उपहित नहीं होता अपितु दो कालों के

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अनुभवों की एकविषयता का ग्रहण प्रत्यभिज्ञा है। 'यह वही है' इस ज्ञान में 'यह' वर्तमानकालिक अनुभव का ग्राहक है न कि अनुभव के विषय का, और 'वह' स्मृतिमूलक अनुभव का ग्राहक है न कि स्मृति के विषय का। इस प्रकार स्मृति और अनुभव की इन्द्रियगोचर पदार्थ की ओर उन्मुख होकर एक प्रत्ययरूपता ही प्रत्यभिज्ञा है।

प्रत्यभिज्ञा के दो घटक हैं – प्रत्यक्ष और स्मृति। इनमें साम्प्रतिक अंश अनिवार्यतः प्रत्यक्षात्मक होता है, पर अतीत ज्ञान भी प्रत्यक्षात्मक ही है, शैव ऐसा नहीं मानते। अभिनवगुप्त और उत्पल के दिये हुए दृष्टान्तों का विश्लेषण किया जाए तो कहा जा सकता है कि अतीत ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तीनों से सम्भव है। इनमें अतीतगत प्रत्यक्ष भी सामान्यात्मना या विशेषात्मना किसी भी प्रकार से हो सकता है तथा आगम में स्मृति-चित्र और मानस-प्रतिमा को भी समेटा जा सकता है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा की संघटना का आन्तरिक सघनीकरण किया गया है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रत्यभिज्ञा को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर उसका तीनों–प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम–में अन्तर्भाव किया गया है।[134] प्रमाण के मोहापसरणरूप होने के कारण यह प्रत्यभिज्ञा सारे ज्ञानों की मौलिक प्रकृति का संकेतन करती है, अतः यह समीकरण समीचीन प्रतीत होता है। पर प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के इस सामान्यलक्षण पर ही नहीं रुकती, उनके विशेष लक्षणों तक जाकर उनकी प्रत्यभिज्ञानात्मकता का भी अन्वेषण करती है। सारे प्रमाणों में अन्तर्भाव का स्रोत बौद्ध हैं। बौद्ध न्याय ने प्रत्यभिज्ञा की दो स्थितियों की परिकल्ना की है। पहली, विकल्प बोध या ज्ञान की विशिष्ट प्रकारता के रूप में–'**सोऽयं देवदत्तः**', जहाँ अतीत और वर्तमान के सादृश्य से प्रत्यभिज्ञा अस्तित्व में आती है। विकल्प ज्ञान होने के नाते यह भ्रान्तिजन्य ज्ञान है, क्योंकि, जैसा हम देख चुके हैं, स्मरण और प्रत्यक्ष दोनों में देश और काल का भेद होने के कारण इस ज्ञान में सत् का विषयण या संदर्भण नहीं होता। परन्तु हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है दूसरी स्थिति, जिसे कल्पनाजन्य प्रत्यभिज्ञा कहा जा सकता है और जो सारे विकल्पज्ञान की विकल्परूपता का आधायक है। विकल्परूपता का कारण है अभिलापसंसर्ग, जिसका विषय है सामान्यलक्षण। सामान्यलक्षण का अर्थ है नाम-जाति-गुण-क्रिया-द्रव्य-कल्पना की स्वलक्षण में योजना।[135] कल्पना ऐसी प्रत्यवमर्श योजना है जिसमें उद्देश्य विधेय का प्रतिनिधि बन जाता है–अर्थात् अनिश्चित वस्तु विधेय के द्वारा निश्चिततर बनती है–'**स एवाऽयम्**।' '**अयं डित्थः**' यह नामकल्पना है, '**इदं नीलम्**' यह गुणकल्पना है, '**गोरयम्**' यह जातिकल्पना है और '**अयं देवदत्तः**' यह द्रव्यकल्पना है। यह निश्चय का प्रमाणशास्त्रीय आकार है और प्रत्येक ज्ञानाकार इसी में पर्यवसित होता है।[136] अभिनवगुप्त इसलिए बौद्ध मत के अभिलाप को 'विकल्पलक्षणमहासामान्य' कहते हैं।[137]

अभिनवगुप्त को बौद्ध दार्शनिकों से दो प्रेरणाएँ मिली हैं। बौद्धों की ही भाँति वे भी प्रत्यभिज्ञा को ज्ञान का सामान्यीकृत प्रकार मानते हैं। और इसका मूल भी वही मानते हैं जो बौद्धों ने माना है–अभिलाप। विभिन्न प्रमाणों के साथ समीकरण के मूल में यही कारण है।

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

परन्तु अभिनव के यहाँ यह अभिलाप से 'संसर्ग' या 'योग' न होकर 'तदात्मकता' है। अर्थात् अभिलाप, जिसे अभिनवगुप्त प्रत्यवमर्श कहते हैं (और जो शब्द इस प्रसंग में उन्हें बौद्धों से ही मिला है), विषय का स्वभाव है। यह प्रत्यवमर्श हमारी चेतना का अन्तरंग संश्लेषणात्मक व्यापार है जिसे प्रत्यभिज्ञावादी आचार्य 'अनुसंधान' कहते नहीं थकते। यही कारण है कि इस अभिलाप में पूर्वापरज्ञानमेलन (अतीत ज्ञान और प्रत्यक्ष) संगत हो जाता है जबकि बौद्धमत में यह असम्भव है। इस प्रकार दोनों दर्शन एक ही मूलबिन्दु को आधार बनाते हुए सिद्धान्त-विलोमन के द्वारा दो विरोधी निष्कर्षों तक पहुँचते हैं। दूसरी प्रेरणा अभिनवगुप्त को प्रत्यभिज्ञानजन्य ज्ञान के विशिष्ट स्वभाव को बताने में मिलती है। बौद्धों ने कल्पनाजन्य प्रत्यभिज्ञा का प्रभाव ज्ञान की निश्चिततरता में देखा था। अपनी **लोचन** टीका में उत्पल की अन्तिम कारिका को, जहाँ वे प्रत्यभिज्ञा का दृष्टान्त देते हैं, को उद्धृत करते हुए अभिवगुप्त का कहना है कि दो अनुभवों का मिलन वस्तुतः ज्ञात का 'विशेषतः' निरूपण करता है। और यह 'विशेष' निरूपण हज़ारों रूप धारण कर सकता है। 'यह वही है' **(तदेवेदम्)** यह ज्ञानाकार प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान के आकार की एक विधा मात्र है, एकमात्र विधा नहीं है। 'यह ऐसा है' **(इदमित्थम्)** यह ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञानात्मक है।[138] अभिनव का यह मन्तव्य एक ओर तो उन्हें उत्पल के प्रमाणलक्षण[139] से जोड़ कर सारे ज्ञान को प्रत्यभिज्ञानात्मक बना देता है और दूसरी ओर जिस विशिष्ट प्रसंग में वह चर्चा कर रहे हैं वह पूरे काव्यार्थ बोध को काव्यगत शब्द और अर्थ की प्रत्यभिज्ञा में पर्यवसित कर देता है।

इन निष्कर्षों में अभिनवगुप्त की प्रेरणा का दूसरा स्रोत है–भर्तृहरि। देखा जाए तो बौद्धों ने अपने सिद्धान्त को भर्तृहरि की प्रत्यालोचना से शुरू किया और अभिनवगुप्त ने बौद्धों का खण्डन कर भर्तृहरि को पुनःप्रतिष्ठित किया। वाग्रूपता को, जिसे बौद्ध अभिलाप कहते हैं, भर्तृहरि ज्ञान का शाश्वत स्वभाव मानते हैं। इस वाग्रूपता का स्वभाव है प्रत्यवमर्श, जिसके द्वारा वह प्रकाश का निरन्तर विषयन करती है। यह प्रत्यवमर्शन एक प्रकार से प्रत्यभिज्ञानात्मक है, अन्यथा ज्ञान और वस्तु के स्वरूप की पहचान नहीं हो सकेगी। इस प्रक्रिया का अनुवाद शब्दार्थ-बोध में भी होता है। 'यह वह है' **(सोऽयम्)** ज्ञान के द्वारा हम सामान्य विषय का ग्रहण करते हैं। इस ज्ञान में संकेतकाल का 'वह', व्यावहारिक ज्ञान के 'यह' से एक रूप हो जाता है। 'गाय' प्रतीक 'गाय' पदार्थ से एक रूप हो जाता है। शब्द और अर्थ के एकीकरण की यही प्रक्रिया है।[140] वस्तुतः प्रकाश और विमर्श की शब्दावली प्रत्यभिज्ञावादियों को भर्तृहरि से प्राप्त होती है। अभिनवगुप्त एक प्रकार से भर्तृहरि के सिद्धान्त को आगे बढ़ाते हैं। मुख्य अन्तर है जहाँ भर्तृहरि अर्थ को 'शब्द' पर अध्यस्त मानते हैं। अभिनवगुप्त व्यवहार में इस अध्यस्तता को स्वीकार करते हुए भी अर्थ को शब्दन-क्रिया मानते हैं और परमार्थमीमांसा में भी अर्थ को शब्द का विवर्त न मानते हुए परमाद्वैत को शब्द और अर्थ का सामरस्य मानते हैं।

स्मृति और अनुभव में मेलन का कृत्य अनुसंधान पर आश्रित है। एक ही अधिकरण पर भिन्न माने गए ज्ञानों में एकान्वयिता को ढूँढ लेना ही अनुसंधान है। इस अर्थ में प्रमाता

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

की अन्तर्मुख चेतना ही वास्तविक अनुसंधान है, क्योंकि वही एक सूत्र है जिसमें सारे ज्ञान पिरोए हुए हैं।[141] अंतर्मुख तादात्म्य के विमर्श रूप में परिभाषित यही अनुसंधान प्रत्यभिज्ञा है। ज्ञानात्मक संदर्भों में एकविषयता की प्राप्ति इसका लक्षण है।[142] शब्दनात्मक संदर्भों में इसकी अध्यास संज्ञा है।[143] क्रियात्मक सन्दर्भों में इस अनुसंधान की सम्बन्ध संज्ञा है। नाना आभासों के मध्य व्यामिश्रण की योजना संज्ञा है। ये तीनों प्रत्यय एक सीढ़ी बनाते हैं। नाना आभासों के मध्य मेलन योजनाश्रित है। दो वस्तुओं (स्वलक्षणाभासों) के मध्य मेलन सम्बंधाश्रित है। एक पदार्थ की विभिन्न कालों/देशों में अवस्थिति के मध्य मेलन अनुसंधानाश्रित हैं। योजना बहुलता की, सम्बन्ध दो की और अनुसंधान एक की स्थिति में होता है। इन तीनों ही धारणाओं का लक्ष्य है एकत्व की खोज, पर योजना का क्षेत्र है भेदरूप भासन, सम्बन्ध का भेदाभेदरूप भासन और अनुसंधान का अभेदरूप भासन। थोड़ा महीन विश्लेषण करने पर देखते हैं कि योजना को पदार्थ का नाम दिया जा सकता है, सम्बन्ध को बुद्धि का और अनुसंधान को विमर्श का। प्रत्यभिज्ञा चूँकि सभी स्तरों पर सक्रिय है, अतः ये सभी अनुसंधान में जाकर पर्यवसित होते हैं। इसीलिए प्रत्यभिज्ञा 'पदार्थ' या 'बुद्धि' रूप न होकर, 'विमर्श' रूप है। परन्तु 'तादात्म्य का विमर्शन' या 'स्वात्मरूप में विश्रान्ति' के अर्थ में ही अनुसंधान प्रत्यभिज्ञा का पर्याय कहा जाना चाहिए अन्यथा अनुसंधान प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि का साधन है। प्रत्यभिज्ञा-प्रतिपादक शब्दों में एक तारतम्य का अनुसंधान करने का साहस किया जा सकता है, जिसकी प्रामाणिकता की परीक्षा भविष्य के अध्ययनों के हाथ रहेगी : प्रत्यभिज्ञान→प्रत्यवमर्श→अनुसंधान→ सम्बन्ध-योजना→अध्यवसाय→अध्यास→अभिलाप→आभास।[144]

अनुसंधान की चर्चा के दौरान उभयमेलनात्मक प्रक्रिया का सन्दर्भण आवश्यक होगा। यथाप्रसंग पहले उसका नामोल्लेख हुआ है। अनुसंधान के प्रक्रियांश को स्पष्ट करने के लिए प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक इसका आश्रय विशेष कारण से लेते हैं।[145] यों तो उभयमेलन प्रक्रिया बड़ी व्यापक है। जैसा शब्द से स्पष्ट है यह दो का मिलन है।एक से अधिक ग्राह्यों के मध्य, ग्राहक और ग्राह्य के बीच, दो प्रमाताओं के बीच, दो ज्ञानों के मध्य, ज्ञान और प्रमाता के मध्य सभी के मिश्रण इसकी परिधि में आते हैं। पर प्रत्यभिज्ञा के सम्बन्ध में यह मेलन या अनुसंधान दो ज्ञानों के मध्य माना जाता है। अतीत ज्ञान अर्थात् स्मृति और वर्तमानकालिक बोध अर्थात् प्रत्यक्ष उनके पारस्परिक अनुसंधान या मेलन से प्रत्यभिज्ञा अस्तित्व में आती है अर्थात् दो ज्ञानों की विषयगत एकता की निष्पत्ति होती है। अर्थात् यहाँ अनुसंधान या एकीकरण की व्याख्या मेलन के शब्दों में होती है। उसके दो कारण हैं। एक तो सत् की यहाँ जो भावना की गई है वह निर्विशेष, सरल एकता मात्र नहीं है, वह भिन्नों की ही नहीं विरोधियों की भी, उनके पारस्परिक अन्तरालों के समंजसनपूर्वक एकतानता है। इस बात को वह दोनों ज्ञानों की निजी प्रकृति को सुरक्षित रखते हुए विषयद्वार से उनकी एकता में अनूदित करते हैं। इस वृत्तिजटिलता की बात की ओर हम इंगित कर आये हैं। दूसरा कारण ये ज्ञान के नैसर्गिक स्वभाव में देखते हैं। ज्ञान की स्वयंप्रकाशता का अर्थ है कि वह अन्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

ज्ञान से प्रकाशित नहीं होता। स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों ज्ञानत्वेन स्वयंप्रकाश हैं। अतः स्मृति का प्रत्यक्ष विषय नहीं हो सकता। एतदर्थ उनका एकीकरण पारस्परिक विगलन द्वारा सम्भव नहीं है, वह एकता विषय के माध्यम से ही सम्भव है।[146]

अभिनवगुप्त अनुसंधान के प्रत्यय का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपयोग एक मौलिक दार्शनिक गुत्थी को सुलझाने के लिए करते हैं। प्रश्न को दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। स्मृति और प्रत्यक्ष की सह-क्रियाशीलता से उत्पन्न ज्ञान प्रकृत्या सविकल्पक होता है, अतः चरम प्रत्यभिज्ञा का निदर्शक **'सोऽहम्'** आकार वाला निर्विकल्पक बोध सविकल्प ज्ञान से कैसे उत्पन्न होता है और 'सोऽहं'में 'अहं' और 'सः' के भिन्न अंश उस ज्ञान को निर्विकल्पक कैसे रहने देते हैं? अभिनव का कहना है कि ज्ञान की प्रकृति अर्थ की प्रकृति से निर्धारित होती है। काल आदि का आरोपण अर्थ में होता हैं, ज्ञान में नहीं, अपने में ज्ञान विकल्पहीन है। साधारण प्रत्यभिज्ञा का विषय विकल्पात्मक है, अतः उसकी प्रत्यभिज्ञा भी सविकल्पक है। यद्यपि **'स एवायं घटः'**–यही वह घड़ा है–जैसे स्थलों में एकता का अनुसंधान होने पर भी वह विकल्पक ही रहता है, फिर भी देश, काल आदि भेदों के बावजूद उनकी तुलना में आकार की एकता के अधिक स्फुटित होने के कारण, जैसे एक दम से बिजली कौंधने पर एक क्षण के लिए चीज़ प्रकाशित हो जाती है, वैसे ही इस प्रत्यभिज्ञा को भी मौलिक प्रत्यभिज्ञा की ओर पहला कदम मानना चाहिए।[147] जहाँ तक अहंविमर्श का प्रश्न है, यहाँ अहं प्रमेय निर्विकल्पक है।[148] अतः इसकी प्रत्यभिज्ञा की निर्विकल्पकता भी असंदिग्ध है। विकल्प का स्वरूप है दूसरे से व्यवच्छेद। जहाँ भी बोध का प्रतियोगी होगा, अर्थात् उसका विषय अन्य से व्यवच्छेद्य होगा, वह ज्ञान विकल्परूप होगा।[149] बौद्धों के अपोह सिद्धान्त के विरोध में महेश्वर की अपोहन शक्ति का प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त प्रकृत समस्या पर विचार करते हैं। यहाँ भी अपोहन व्यापार की शक्तिरूपता के आविष्करण से महेश्वर का प्रत्यभिज्ञान कराना ही उनका लक्ष्य है। वाग्रूपता अर्थात् ज्ञान की शब्दनरूपता विकल्प का कारण नहीं है, कारण है बोधविषय के प्रतिस्पर्धी विषय की सम्भावना का आरोप, ताकि उससे व्यवच्छेद किया जा सके। वह्नि के लिए आवश्यक है अवह्नि की सम्भावना का आरोपण और फिर उसका निषेध करते हुए वह्नि का निश्चयन। यही विकल्प-ज्ञान की प्रक्रिया है। यदि थोड़ा विषयान्तर करें, वस्तुतः व्यापकतर सन्दर्भ में विषयान्तर नहीं होगा, तो अभिवगुप्त अपोहन की परिभाषा में भी उभयमेलन का आश्रय लेते हैं। रत्नकीर्ति की व्याख्या का अनुवदन करते हुए वे कहते हैं कि यहाँ दो विषयों का निषेधात्मक मेलन है, निषेधभाग का विषय है'अतद्रूप' और विधि भाग का विषय है 'तद्रूप'। इस प्रकार विकल्पन का अर्थ है एक ही वस्तु को लेकर विधीयमान और निषिध्यमान दोनों रूपों में कल्पना।[150] अहंप्रत्यवमर्श इसलिए निर्विकल्प है क्योंकि यहाँ अहं का कोई भी प्रतियोगी नहीं है जिससे अहं का व्यवच्छेदन किया जा सके।[151]

अहंप्रत्यवमर्श दो प्रकार का है–शुद्ध और मायाजन्य। शुद्ध अहंप्रत्यवमर्श की भूमियाँ दो हैं। एक तो शिवतत्त्व, जहाँ किसी भी प्रकार विषयगत उपराग नहीं है, केवल संविन्मात्र

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

है। उसमें शक्तितत्त्व अन्तर्भुक्त है। और दूसरे सदाशिव आदि शुद्ध सृष्टि के तीन तत्त्व, जहाँ तत्त्वों की निर्मलता में केवल विश्व की अर्थात् इदन्तासामान्य की हल्की छाया सी पड़ती है। मायिक अहंविमर्श की भूमि है देह, प्राण, बुद्धि, शून्य आदि प्रमाता, जो स्वत: तो वेद्यरूप हैं, परन्तु अहंविमर्श के कारण इनमें प्रमातृत्व का अभिमान होता है। शुद्ध अहंप्रत्यवमर्श की दोनों अवस्थाओं में कोई भी व्यवच्छेद्य नहीं होता, यहाँ तक कि जो प्रतिबिम्बित सामान्यवेद्यता है उसके प्रकाशरूप, अहं से एकरूप होने के कारण, उसका भी कोई प्रतियोगी नहीं होता। ऐसी स्थिति में शुद्ध अहंविमर्श को किसी प्रकार विकल्प नहीं कहा जा सकता।[152]

शुद्ध और मायीय अहंप्रतीतियाँ दोनों दो प्रकार की हैं[153] –अनुभवरूप और अनुसंधान रूप। अनुभवरूप शुद्ध अहंप्रतीति शिवतत्त्व की अवस्था है और शुद्ध 'अहमिदम्' रूप अनुसन्धानात्मक प्रतीति सदाशिव, ईश्वर और शुद्धाविद्या तत्त्वों की। इन शुद्धसृष्टि के सदाशिवादि तत्त्वों में इदं अभी भी अहं से अभिन्न है और अहं की ही इदन्तया आवृत्ति होती है, इसलिए व्यवच्छेदवर्जना तथा पूर्णता के कारण इन तत्त्वों का अनुसंधानात्मक अनुभव निर्विकल्पक ही रहता है। मायीय या अशुद्ध अहंप्रत्यय की अनुभवरूपता तथा अनुसंधानरूपता दोनों ही देह आदि में स्थिति-भेद से समान रूप से पायी जाती हैं। 'मैं मोटा हूँ', 'मैं साँस ले रहा हूँ' इत्यादि स्थलों में अहंप्रतीति अनुभवरूप है। विभिन्न स्थितियों में एकरूपता का आसूत्रण करती हुई प्रतीति का आकार अनुसन्धानरूप होता है–"जो मैं मोटा था, वही दुबला हो गया हूँ।"[154] यहाँ ये दोनों स्थितियाँ अहंरूपता के उपरान्त भी विकल्प हैं, क्योंकि शरीरादिगत अहं का घट या अन्य प्राणियों से भेद है। जहाँ भी बाह्य योजना है वहाँ सभी जगह विकल्परूपता ही है। यहाँ अशुद्ध अहमनुसन्धान सारी बाह्य प्रत्यभिज्ञाओं का उपलक्षण है। अभिनव की मान्यता है कि सारी प्रत्यभिज्ञाएँ शिव के आत्मप्रत्यभिज्ञान– मौलिक अहंविमर्श, में परिनिष्ठित हैं, अत: यदि किसी में देह आदि का अपोद्धरण (एब्सट्रैक्शन) करते हुए उसकी 'पूर्णता और अवच्छेदहीनता' को देखकर 'मैं यह हूँ' इस प्रकार का अनुसंधान अर्थात् प्रत्यभिज्ञानात्मक परामर्श उदित हो जाए तो यह विकल्पशून्य सदाशिव की ही अवस्था होगी।[155]

प्रत्यभिज्ञा दार्शनिक यहाँ कई चीज़ों की भूमिका तैयार कर रहे हैं। निम्नतम स्तर पर देह के साथ अहमनुसंधान में चेतना का, भले ही हम उसे अशुद्ध क्यों न कहें, सबसे सहज स्वाभाविक विषयीकरण है। भारतीय दर्शन की अतिक्रामी परम्परा, जिसमें काश्मीरी आचार्य मूर्धन्य हैं, पूरे ब्रह्माण्ड को देह का ही संघटनात्मक विस्तार मानती है। इसीलिए साधना और उपासना में देह का इतना महत्त्व माना गया है। देह का अर्थ केवल स्थूल शरीर ही नहीं है, यह वह सब है जिस रूप में शुद्ध चैतन्य विषयरूप में आश्यानीभूत है।[156] 'पिण्डे ब्रह्माण्डम्' के समीकरण की यात्रा यहीं से प्रारम्भ होती है। काश्मीर शैव दर्शन इसी अर्थ में संसृतिविद्या है। विश्वचेतना का अवरोहण-क्रम जिसमें वह अपना प्रमेयीकरण करती हुई शिव से प्रारम्भ कर पृथ्वी तत्त्व तक आती है, वह उसका अपने को पहचानने का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

उद्यम है–'यह सब मैं हूँ' – 'अहमिदम्'। इसी प्रकार पृथ्वी से शिव तक लौटने का आरोहण क्रम भी पारमार्थिक प्रत्यभिज्ञा है – 'इदमहम्', जो अन्ततः वेद्यता के अभाव में अहं प्रत्यवमर्श में सिमट जाता है। इस प्रकार जहाँ यह आरोहण/अवरोहण-क्रम प्रत्यभिज्ञानात्मक है वहीं प्रत्येक चरण की आन्तरालिक अनुभूतियाँ भी इस अर्थ में प्रत्यभिज्ञानात्मक और अतिक्रामी हैं कि अवरोहण क्रम में हर पूर्ववर्ती तत्त्वावस्था परवर्ती प्रत्यभिज्ञाओं का पूर्वसम्भावन और अपने में अन्तर्भावन करती है, और आरोहण क्रम में हर पूर्ववर्ती अवस्था उत्तरवर्ती में अन्तर्भुक्त होते चलती है। अहन्ता से विश्वेदन्ता और विश्वेदन्ता से व्यष्टि इदन्ता का उदय अहंता की इस प्रागनुभविक सम्भावनसामर्थ्य को अपना ही निरन्तर विषयीकरण करते हुए अपने से ऐक्यानुसंधान करने में व्यक्त करता है। अभिनवगुप्त की स्पष्ट घोषणा है कि विश्वरूप में आत्मप्रमेयीकरण अपने से परे अतिक्रामी विषयिता का दृढ़ बोध कराता है। इसे वे प्रतिलाभ कहते हैं।[157] यहाँ प्रतिलाभ शब्द में प्रत्यभिज्ञा की छाया स्पष्ट है। अभिनवगुप्त कारण भी देते हैं, जो प्रत्यभिज्ञा की मौलिक धारणा से उपजता है। संसृति-प्रक्रिया के ये सारे तत्त्व परमार्थतः परमशिव की शक्तियाँ ही हैं।[158] अतः यह बोध कि तत्त्व वस्तुतः परमेश्वर की शक्तियाँ है, हमें शक्तिमान् की प्रत्यभिज्ञा करा देता है।[159] इसी अर्थ में सारी सृष्टि प्रत्यभिज्ञानात्मक व्यापार है। यहाँ हर तत्त्व स्वरूपमात्रनिष्ठ होने से अतिक्रामी है और अन्य तत्त्वों को अन्तर्गर्भित करने के कारण अन्तर्व्यापक भी। वह दैनिक जीवन से दृष्टान्त देते हुए कहते हैं, जैसे घट पाने के लिए घटत्व का ज्ञान हमें घट तक अनायास पहुँचा देता है, पर इस घटत्व की गोद में अनेक शक्तियाँ हैं – जैसे सत्ता,द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि। यदि सत्ता का आश्रय लेकर घट तक पहुँचना पड़े तो यह लम्बी यात्रा होगी, क्योंकि सत्ता तो स्वरूप मात्र निष्ठ है और उसके बोध से घट का पाने के लिए अन्य शक्तियों की अपेक्षा होगी। इसलिए सत्ता को घट से दूर कहा जाएगा। परमार्थ-लाभ में इस दृष्टान्त को पलटा जा सकता है।[160] महार्थमञ्जरी के प्रणेता महेश्वरानन्द इस तथ्य को रेखांकित करते हैं।[161] अभिनवगुप्त अपने इस प्रतिपादन में समस्त उपासना-वैचित्र्यों, उनके स्तर-भेदों और अपने मूल सिद्धान्त के साथ प्रासंगिकता भी ढूँढ लेते हैं।[162]

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में अन्तर्वस्तु (कॉन्टेन्ट) की दृष्टि से किये प्रत्यभिज्ञा विभाग की अर्थवत्ता समझ में आने लगती है। **विज्ञानभैरव** में शुद्ध अनुसंधानमूलक दो अहंप्रत्ययों की चर्चा आयी है।[163] इसके दो प्रतीकात्मक ज्ञानाकार हैं–

1. **सोऽहम्** (वह मैं हूँ), **अहमिदम्** (यह मैं हूँ), और

2. **ममेदम्** (यह मेरा है)।

प्रथम में धर्मियों की एकता का अनुसंधान है–'**यः शुद्धबोधस्वरूपः कर्त्ता च सोऽहम्**'। इसे अहंप्रत्यवमर्श कह सकते हैं। यहाँ विकल्पातीत या निर्विकल्प स्थिति है। दूसरे में, सारी विकल्प सृष्टि का सारा प्रसार मेरा ही स्वातन्त्र्य रूप ऐश्वर्य है–'**सर्वो ममायं विभवः**'। इन्हें क्रमशः धर्मिप्रत्यभिज्ञान और धर्मप्रत्यभिज्ञान कहा जा सकता है।[164] उत्पल

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

और अभिनवगुप्त विज्ञानभैरव कृत इस भेद का आदर करते हैं।[165] इस द्वैध से अनुभव जगत् का आत्मतया या आत्माभासनतया ग्रहण परमार्थ तत्त्व तक हमें सहज ही ले जाता है। दूसरे शब्दों में, धर्म-प्रत्यभिज्ञान की अनिवार्य परिणति है धर्मि-प्रत्यभिज्ञान।[166]

विकल्प-प्रवृत्ति की दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा के तीन भेद किये जा सकते हैं–

1. मायीय या सविकल्प प्रत्यभिज्ञा
2. निर्विकल्प प्रत्यभिज्ञा और
3. परा प्रत्यभिज्ञा

ये तीनों प्रकार अहं प्रत्यवमर्श के क्रमशः अशुद्ध, मिश्रित और शुद्ध विभाजन पर आधारित हैं। विकल्प और प्रत्यभिज्ञा में मौलिक अन्तर है। विकल्प है अभेद में भेदन, जबकि प्रत्यभिज्ञा है भेद में अभेदन। अतः समस्या है दोनों विरोधी बिन्दुओं का समन्वय कैसे हो। उपर्युक्त विभाजन के द्वारा यह बताने का प्रयास किया गया है कि सामान्यतः भेद में अभेद रूप होने पर भी प्रत्यभिज्ञा भेद, भेदाभेद और अभेद इन तीनों स्तरों पर प्रवृत्त होती है और स्तर-भेद के कारण उसकी प्रवृत्ति के प्रकार में विशिष्टता आती जाती है। मायीय प्रत्यभिज्ञा का सन्दर्भ जागतिक है। इस स्थिति में **'यह वही घट है' (सोऽयं घटः)** में घट का निश्चयन विकल्प से और तद्रूपता (सोऽयं) का प्रत्यभिज्ञान से होता है। यहाँ पर भी हमारे अनुभव दो प्रकार के हो सकते हैं–**'अयं घटः'** और **'सोऽयं घटः'**। इसमें पहला अनुभवरूप है और दूसरा अनुसंधानरूप। भास्कर का कहना है कि ये दोनों ही अनुसंधानरूप हैं, केवल पहले में देश-काल की तुलना में आकार की उल्वणता के कारण अनुसंधानरूपता पर ध्यान नहीं जाता। ये बाह्यवस्तु विषयक प्रत्यभिज्ञाएँ हैं और विकल्परूप हैं। पर यहाँ पर भी जो अनुसंधान है वह प्रमाता का व्यापार है, अतः अत्यन्त क्षीण होने पर भी ये हमें मूल प्रत्यभिज्ञा से जोड़ने की सम्भावना रखती हैं।

दूसरे प्रकार – निर्विकल्प प्रत्यभिज्ञा – का सम्बन्ध भेदाभेद स्तर से है। जैसाकि हम देख चुके हैं, शिव का सम्बन्ध शुद्ध स्तर से और सदाशिव आदि का शुद्धाशुद्ध से है। वस्तुतः तत्त्वों का उल्लेख यहाँ प्रतीकात्मक या उपलक्षणात्मक मानना चाहिए। षडध्व के विकास में सारी समकक्ष स्थितियों में यह लागू होगा। जैसे परावाक् की स्थिति शुद्ध और पश्यन्ती की शुद्धाशुद्ध मानी जाएगी।[167] यहाँ, जैसा कि हम प्रसंग-भेद से देख चुके हैं, अपोहन-व्यापार के अभाव के कारण विकल्प का अभाव है, क्योंकि विनिश्चनीय की अपोहनीय से अलग सत्ता नहीं है। इस अविच्छेद की प्रत्यायक प्रतीति अनुसंधान है।

तीसरा प्रकार इन सभी विकल्पों से परे जाता है। इसीलिए इसे परा प्रत्यभिज्ञा कहते हैं जिसका सम्बन्ध परमशिव की विश्वोत्तीर्ण स्थिति से है। उसे ही अभिनवगुप्त ने विमर्शिनी के मंगलश्लोक में 'निराभास' कहा है।[168] यह दो अभेदों – प्रकाश और विमर्श – के मध्य अभेद की स्थिति है।

जैसाकि हमने प्रारम्भ में कहा था कि प्रत्यभिज्ञा का प्रयोग प्रमा और प्रमाण दोनों अर्थों में हुआ है। शैव दार्शनिक प्रमाण और प्रमाणफल अर्थात् प्रमा में अभेद मानते हैं। इस

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा प्रमाण और प्रत्यभिज्ञा प्रमा एक हैं। **'शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते'** में 'शक्त्याविष्करणेन' अंश प्रमाण और 'प्रत्यभिज्ञोपदर्शन' (अर्थात् बोध/प्रतीति) अंश प्रमा है। यह बात शैवों ने बौद्धों से ली है। बौद्धों की मान्यता है कि वस्तुतः बोध एक है, केवल विश्लेषणात्मक दृष्टि से हम प्रमाण और प्रमा में भेद करते हैं। इनमें जन्यजनकभाव सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका सीधा अर्थ होगा दोनों अंशों में वास्तविक भेद मानना। इस सम्बन्ध को बौद्धों के शब्दों में व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक भाव कहा जा सकता है।[169] प्रमाण व्यवस्थापक या व्यवस्था-हेतु है और प्रमा या प्रमाणफल व्यवस्थाप्य। बौद्धों के प्रभाव का साक्षात् प्रमाण है अभिनव द्वारा इस प्रसंग में **विमर्शिनी**[170] और **बृहतीविमर्शिनी**[171] में धर्मकीर्ति की सम्बन्धित कारिका को अभ्युपगम-पूर्वक उद्धृत करना। परन्तु यह समता केवल यहीं तक सीमित है। अभिनवगुप्त इस शब्दावली को स्वीकार करते हैं, परन्तु हेतुफलभाव की शब्दावली को अधिक उपयुक्त पाते हैं।[172] ज्ञान के अन्दर पाये जाने वाले व्यापार को लेकर दोनों के दृष्टिकोण एक-दूसरे के नितान्त विरोधी हैं। क्षणिकवाद की अपनी मान्यता के कारण बौद्ध व्यापारमात्र का निषेध करते हैं और जो भी व्यापार दिखाई देता है वह 'उत्प्रेक्षित' (**सव्यापारमिव**) है, जब कि अभिनव की दृष्टि में व्यापार प्रमा की आत्मा है और वही वह आधार है जिसको लेकर प्रमाण और प्रमा में अभेद की सिद्धि होती है। फल अर्थात् प्रमा 'व्यापार' है, जो व्यापार करने वाले प्रमाता और व्यापारित किये जा रहे प्रमाण से एकरूप है।[173] परन्तु दोनों के अभेद का अर्थ यह नहीं है कि वे पर्यायवाची हैं। वस्तुतः प्रमाण है विषय का बाह्योन्मुख प्रकाश और प्रमा है विषय से संकुचित उसी का अन्तर्मुख विमर्श। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है शक्ति का बहिर्मुख प्रकाशन और प्रत्यभिज्ञान प्रमा है उन शक्तियों द्वारा निरूपित शक्तिमत्त्व रूप आन्तरिक विमर्श। यहाँ शैव दार्शनिक हेतुफलभाव या व्यापारफलभाव की आन्तरिक एकता बताने के लिए जिस पद्धति का आश्रय लेते हैं वह भी आकार में प्रत्यभिज्ञात्मक है[174] जिसका आधार प्रकाश और विमर्श का समीकरण है। प्रकाश व्यवस्थापक है, विमर्श व्यवस्थाप्य; प्रकाश प्रमाण है विमर्श प्रमा; दोनों का अनुसंधान या एकीकरण ही प्रत्यभिज्ञा है।[175]

प्रत्यक्ष और स्मृति के एकीकरण या अनुसंधान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। प्रश्न है कि निर्विकल्पक स्थिति में तो केवल साक्षात्कारात्मक अनुभूति होती है या अखण्ड वर्तमानकालता होती है। स्मृति तो विकल्प है, वह वहाँ होती नहीं तो इस चरम अनुभव को प्रत्यभिज्ञा किस आधार पर कहते हैं? अभिनवगुप्त के टीकाकार भास्करकण्ठ ने यह प्रश्न भास्करी के प्रारभ में ही उठाया है।[176] वे इस प्रश्न को निराधार मानते हैं क्योंकि आत्मा तो सदा भात (स्मृति) और भासमान (प्रत्यक्ष) है। अपने ही स्वातन्त्र्य से उसे अपने ऐश्वर्य की विस्मृति हो जाती है, उस ऐश्वर्य की 'वह ईश्वर मैं ही हूँ' यह प्रत्यभिज्ञा होती है। भात की ही विस्मृति हो ऐसा कोई नियम नहीं है। भासमान की भी विस्मृति हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो **'दशमस्त्वमसि'** की भाँति **'तत् त्वमसि'** जैसे महावाक्यों के उपदेश का कोई अर्थ

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

नहीं रहेगा। भास्कर का समाधान ज्ञानमीमांसा के सन्दर्भ में उठाए गए प्रश्न का पारमार्थिक समाधान है। प्रतिप्रश्न से हम समस्या का पुनर्कथन कर देते हैं। दूसरे, इस उत्तर में एक कठिनाई है–विस्मृति का सम्बन्ध अतीतानुभव से होना चाहिए, वर्तमान से नहीं।[177] इस बात में सन्देह नहीं कि ज्ञानमीमांसा में भी मौलिक साँचा परमार्थिक ही रहेगा। जैसे कि स्मृति भी शक्ति है और शक्ति होने के नाते शक्तिमान् का स्वभाव है, अतः उनमें तादात्म्य स्वाभाविक है[178] , परन्तु देखना होगा कि शैव दार्शनिक इसमें क्या पद्धति अपनाते हैं।

आगामी अंक में समाप्य।

सन्दर्भ

79. प्रयोजनं च प्रत्यभिज्ञोपायज्ञानम्, तस्य प्रयोजनं प्रत्यभिज्ञानं, तस्यापि प्रयोजनम् ...।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 41
80. देखिए **Argument;** पृ. 85-86
81. वस्तुप्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितोऽन्वयी धर्मी यो धर्मान्यथात्वम् अभ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते। तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयम् इति।–यो.सू.भा. 3.14
82. वाक्यप्रमाणपदतत्त्वसदागमार्थाः
स्वात्मोपयोगमुपयान्त्यमुतः स्वशास्त्रात्।
भौमान् रसाञ्जलमयांश्च न सस्यपुष्टौ
मुक्त्वार्कमेकमिह योजयितुं क्षमोऽन्यः॥–ई.प्र.वि., 2, पृ. 317 (उपान्त्य श्लोक)
83. आत्मानमनभिज्ञाय विवेक्तुं योऽन्यदिच्छति।
तेन भौतेन किं वाच्यं प्रश्नेऽस्मिन् को भवानिति॥–वही (अन्त्य श्लोक)
84. प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यय पर, विभिन्न सन्दर्भों में, हमने अन्यत्र विचार किया है। देखिए : "प्रत्यभिज्ञ दर्शन में प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप"; "Recognition in Pratyabhijna School : A Study in Epistemology"; और, **काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ,** पृ. 165-181
85. इस सम्बन्ध में देखें प्रत्यभिज्ञा पद के लिए **अभिनवगुप्त,** पृ. 290-304; **काश्मीर शिवाद्वयवाद,** पृ. 165-66, 177; मृश् पद समूह के लिए **'स्वभावभवभासस्य',** और प्रधान तीन पद समूहों के संग्रह के लिए **Argument.,** पृ. 87 और आगे
86. उदाहरणार्थ : गुरुवचनाज्ज्ञानक्रियालक्षणशक्त्यभिज्ञानादेर्वा।–ई.प्र.वि., 2, पृ. 314; आत्मानमनभिज्ञाय विवेक्तुं योऽन्यदिच्छति।–वही, पृ. 317
87. देखिए ई.प्र.का. 4.2.17 (अपरिज्ञातः), 4.2.12 (परिजानतः)
88. न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।–वाक्य. 1.116। अय्यर 'प्रत्यवमर्श' का recognition-cum-identification से अनुवाद करते हैं। देखिए **भर्तृहरि,** पृ. 106

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

89. ई.प्र.का. 2.3.3 (एकप्रत्यवमर्शसामर्थ्योपपादिते) और ई.प्र.का. 2.3.11 (एकप्रत्यवमर्शाख्याद्) में एकप्रत्यवमर्श शब्द धर्मकीर्ति से इसी अर्थ में उत्पल ने लिया है। प्रमाणवार्तिक श्लोक 73 में आये 'एकप्रत्यवमर्श' पर धर्मकीर्ति अपनी स्वोपज्ञ टीका में इसका अर्थ प्रत्यभिज्ञान (एकम् एकाकारं प्रत्यभिज्ञानम्) करते हैं। देखिए वृत्ति, पृ. 163-64 (पादटिप्पणी 7)
90. 'परामर्शबलादेव' की भास्कर व्याख्या करते हैं : तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानबलादेव।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 39
91. स एवायं पदार्थः एकप्रत्यवमर्शरूपः।–ई.प्र.वि., 2, पृ. 117, 118
92. विमर्शः तमोऽपसारणेन स्फुटीकरणम्।–ई.प्र.वि., 2, पृ. 10
93. प्रत्यय बदलकर प्रतिसंधि, अनुसन्धि, अभिसंधि या अनुसंहिति आदि शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। इसी वर्ग के आलोक में ज्ञान-प्रकारों के व्यापकतर वर्ग को सूचित करने के लिए अभिनवगुप्त एक विशिष्ट शब्दावली की ही रचना कर डालते हैं–अनुसंधान, अनुवेध, अनुयोग इत्यादि (ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 115)।
94. उदाहरणार्थ देखिए ई.प्र.वि., 1, पृ. 36-37 (अभिमुखे वस्तुनि ज्ञानम्); 188-89 (प्रत्यभिज्ञानम्); भास्करी (परामर्श, पृ. 291); पृ. 340 (योजना/प्रत्यवमर्श)।
95. स्मृत्यनुभवानुसंहितिवशतः (वि.पं. 3.38) अर्थस्य द्वौ सहानुसन्धानम् (3.39)। विद्याचक्रवर्ती दोनों स्थानों पर अनुसंधान की व्याख्या प्रत्यभिज्ञा से करते हैं।
96. प्रतिगता अभिज्ञाम् इति प्रत्यभिज्ञा।–वाचस्पत्यम्, पृ. 446
97. प्रत्यभिपूर्वो जानातिः।–ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 31
98. प्रतीपम् आभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 36
99. प्रतिकूलं स्वात्माभिमुखम् अञ्चति।–ललितासहस्रनाम पर भास्करराय की सौभाग्य-भास्कर टीका, भास्कररायभारती दीक्षित : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, ब.ना.शास्त्री खिस्ते, तथा शी.प्र. उपाध्याय, वाराणसी, 1994, पृ. 358 पर उद्धृत।
100. प्रतिशब्दस्यार्थः अनुसंधानं स एव प्रतीपम् इत्यस्यापि पूर्वापरविरोधो न शङ्कनीयः।–भा., 1, पृ. 36
101. प्रति आभिमुख्येन।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 357
102. प्रति आन्तरत्वेन अवमर्शः। – भा., 1, पृ. 302
103. पूर्वस्य प्रत्यावृत्त्या वर्तमानस्य च आभिमुख्येन ज्ञानमिति।–ई.प्र.वि.वि., 2, पृ. 214
104. प्रतीपभानं प्रतिभा भावानाम् ...।–ई.प्र.वि.वि., 2, पृ. 339
105. प्रतीपम् आभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 36
106. आभिमुख्येन धारणापूर्वकतया।–ई.प्र.वि.वि., 2, पृ. 24
107. आभिमुख्येन विषयिविषयपरवशतात्यागेन ... तादात्म्यापादनेन।–वही, 1, पृ. 114-115

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

108.. ज्ञातस्यापि मोहवशादज्ञातस्य इव आभिमुख्येन हृदयङ्गमीभावेन ज्ञानम् प्रत्यभिज्ञानम्।–ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 31

109. एतदुपलक्षणं हृदयस्य आवर्जनं तदुन्मुखीकरणं सत्यमेतद्रूपमिति हृदयङ्गमत्वं च उच्यते।–वही, पृ. 86

110. प्रतीपं ज्ञातस्यापि विस्मृतस्येव पुनराभिमुख्येन, न तु स्मर्यमाणतया अपितु स्फुटत्वेन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं स एवाऽयमिति।–ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 32

111. स्फुटदृष्टाभिमतघटादितुल्यताप्रतिपादनेन अनपह्नवीयत्वप्रख्यापनम्।–वही, पृ. 79

112. अभितः स्वरूपसर्वस्वस्वीकारेण।–वही, पृ. 86

113. कीथ के अनुसार प्रत्यभिज्ञा का प्रयोग सर्वप्रथम बौद्ध पालिग्रन्थों में मिलता है। पहचान चिह्न (अभिञ्ञानेन) के सहारे वस्तु को पहचानना (पच्चभिञ्ञा)में विकल्पज्ञान (सञ्ञा) का इसे मुख्य लक्षण बताया गया है (डॉक्ट्रिन्., पृ. 107)। नीलमतपुराण में 'अभिज्ञात' का प्रयोग आया है। इन्द्र के पूछने पर ब्रह्मा कहते हैं कि हे शक्र अब तुम 'जान गए हो' कि महेश्वर ही सर्वकर्त्ता और सर्वज्ञ हैं (नीलमतपुराण 1270-1273)। यहाँ पर 'अभिज्ञातोऽसि' शब्द के सन्दर्भगत प्रयोग से प्रत्यभिज्ञा के बीज वपन की बात सोची जा सकती है, पर उसके स्वरूप को लेकर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। **The Birthplace of Kalidasa** (दिल्ली, 1926) में लक्ष्मीधर कल्ला ने कालिदास के प्राय: सभी ग्रन्थों के उद्धरण और घटना-व्यापार विश्लेषण के द्वारा कालिदास को प्रत्यभिज्ञा दर्शन का अनुयायी मानते हुए प्रत्यभिज्ञा की धारणा को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है [किन्तु प्रत्यभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यते (शाकुं. अंक 4), त्वया प्रत्यभिज्ञातमात्मानं पश्यामि, (शाकुं. अंक 7) इत्यादि]। यद्यपि प्रथम दर्शन, मोह से विस्मरण, फिर अभिज्ञान या चिह्न दर्शन से वस्तु का स्वरूप बोध यह सामान्य प्रक्रिया वहाँ मिलती है पर उसे प्रत्यभिज्ञा का दार्शनिक विश्लेषण मानना और प्रत्यभिज्ञा दर्शन की परम्परा से जोड़ना कठिन होगा। प्रत्यभिज्ञा दर्शन से भिन्न शंकराचार्य की धारा में शंकर के दक्षिणामूर्तिस्तोत्र पर सुरेश्वराचार्य, जिनका समय शंकर से थोड़ा ही परवर्ती है, के मानसोल्लास वार्तिक और उस पर स्वयंप्रकाश यति की तत्त्वसुधा टीका है। इस स्तोत्र के छठे श्लोक में शंकर प्रत्यभिज्ञा का उल्लेख करते हैं (प्रागस्वाप्समिति प्रबोधसमये यः प्रत्यभिज्ञायते)। परन्तु मुख्य चर्चा सुरेश्वर सातवें श्लोक की व्याख्या में करते हैं जहाँ काश्मीरी प्रत्यभिज्ञा के अनेक बिन्दुओं की पूर्व सम्भावना हुई है। यह अवश्य एक दार्शनिक प्रयास कहा जा सकता है। और यदि यह वस्तुतः आचार्य शंकर की कृति है और मानसोल्लासवार्तिक भी उन्हीं सुरेश्वराचार्य का है (पूज्य कविराज जी ऐसा ही मानते थे) तो प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रत्यभिज्ञा की धारणा पर उनका गहरा प्रभाव मानना होगा। परन्तु यह स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है। यहाँ पर हमें संकेतमात्र से संतोष करना होगा।

114. दृष्टस्मरणयोरैक्ये स्थिते तदुपपद्यते॥ तथा सा प्रत्यभिज्ञानात् स एवायमितिस्थितिः। युज्यते कथमत्रैव ज्ञानयोः कालभिन्नयोः॥ द्वयोरैक्यमनैक्यं वा तदैक्यं भिन्नयोः कथम्। अनैक्ये न स एवायमिति स्याद् घटदण्डयोः॥ तस्मादैक्यमिहं स्पष्टं संसारे समवस्थितम्।–शि.दृ., 4. 120-123; देखिये डॉक्ट्रिन, पृ. 107

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

115. तस्यापि परमार्थलाभेन तुष्येयम्।–ई.प्र.का. वृत्ति., पृ. 2
116. शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते।–ई.प्र.का. 1.1.3
117. दृढनिश्चयरूपं प्रत्यभिज्ञानम्। – वृत्ति, पृ. 3
118. ऐक्ययोजनान्त:पूर्वाभासस्थितिलक्षणसंस्काराश्रिता प्रमातृव्यापाररूपा कल्पनैव प्रत्यभिज्ञाख्या।–वही, पृ. 29
119. विद्याभिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते॥–ई.प्र. का. 3.2.3; मायीयशून्यादिप्रमाता नियत्या कर्माधीन: संसारी, विद्यावशाद् आत्मतत्त्वाभिज्ञया मुक्त:।–वृत्ति, पृ. 66
120. संसारिणाम् ऐश्वर्यस्य स्वात्मन: प्रत्यभिज्ञानं विद्यया, पशुभावो मायया।–वही, पृ. 63
121. कान्तदृष्टान्तेन ईश्वरप्रत्यभिज्ञोपपादनीया चापूर्वफला च।–वही, पृ. 80
122. तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्या: स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुण: स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता॥–ई.प्र.का. 4.1.17
123. तदा तत्क्षणमेव पूर्णतात्मिका जीवन्मुक्ति:।–ई.प्र.वि., 2, पृ. 214-15
124. सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानत:।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता॥–ई.प्र.का. 4.1.11
125. परिज्ञातेश्वरभावस्य ममायं संसारमयो विभव इत्यभेदेन विश्वमाविशत:।–वृत्ति, पृ. 79
126. विभाव्य शिवतामयीमनिशमाविशन् सिध्यति।–ई.प्र.का. 4.1.16
127. यत्र यथावस्थित एव व्यवहारे प्रत्यभिज्ञामात्रात् शिवतालाभ:।–वृत्ति, पृ. 80
128. भातभासमानरूपानुसंधानात्मिका।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 36
129. ई.प्र.का. 2.3.3 और उस पर वृत्ति, पृ. 48
130. वही, 1.3.6 और वृत्ति, पृ. 13
131. वही, 1.8.10 और वृत्ति, पृ. 40
132. यत्किल दर्शनस्य स्मरणस्य च यद्येकमुखं परामर्शमयं चित्तत्त्वम्, तदा भवति अभिन्नविषयत्वं न अन्यथा।–ई.प्र.वि.वि., पृ. 229
133. एतदुभयमेलनात्मकं प्रोक्तानुभवस्मरणपरामर्शमेलनस्वरूपम्।–भा., 1, पृ. 189
134. प्रत्यक्षानुमानागमाद्यन्यतममानप्रत्यभिज्ञानबलेन।–ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 233
135. प्रमाण-समुच्चय 1.3; देखिए बुद्धिस्ट लॉजिक, त्शेर्बात्स्की, डॉवर संस्करण, भाग 2, पृ. 20-21
136. कुत: पुनरेतद्विकल्पोऽर्थान्नोत्पद्यते इति? अर्थसन्निधिनिरपेक्षत्वात्। बालो हि यावत् दृश्यमानं स्तनं 'स एवायं' इति पूर्वदृष्टत्वेन न प्रत्यवमृशति तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने। पूर्वदृष्टापरदृष्टं चार्थमेकीकुर्वद् ... तादृशं चाभिलापसंसर्गयोग्यम्।–न्या.बि.टी., 3, पृ. 50-51

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

137. स्मृत्युत्प्रेक्षादेश्च अवान्तरजातिभेदयोगेऽपि विकल्पलक्षणमहासामान्ययोग इत्यपि सूचितम्।–ई.प्र.वि.वि., 2, पृ. 115
138. प्रत्यभिज्ञेयशब्देन इदमाह ... तथापीदमित्थमिति विशेषतो निरूप्यमाणं सहस्रशाखी भवति। यदुक्तम् ... 'तैस्तैः ... तत्प्रत्यभिज्ञोदिता' इति तेन ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसन्धानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं न तु तदेवेदम् इत्येतावन्मात्रम्।–ध्वन्यालोकलोचन, निर्णयसागर, पृ. 35-36
139. इदमेतादृगित्येवं यद्वशाद्व्यवतिष्ठते। वस्तु प्रमाणं ...।।–ई.प्र.का. 2.3.1
140. सोऽयमित्यभिसंबंधाद्रूपमेकीकृतं यदा। शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते।। – वा.प. 2.130
141. सामानाधिकरण्येन अनुगामित्वेन संधानं विच्छिन्नसम्मतानामपि ज्ञानानाम् एकीभवनं नाम चिदेव अंतर्मुखा, न अन्यत् किंचिदिति।–ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 276; और देखिए, ई.प्र.का. 1.3.7 पर वृत्ति।
142. सर्वं च अनुसंधानं स्मरणानुसन्धानप्राणं विषयमेलनेन विना न संभवत्येव।–वही, पृ. 280
143. संविद्रूपावेशी शब्दनात्माभिलापो वागित्यनेनोक्तः–वक्ति अर्थं स्वाध्यासेन सोऽयमत्यभिसंधानेन।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 303; इस विचार का पल्लवन इस लेख में नहीं किया गया है। और भी देखिए, **काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएं**, नवजीवन रस्तोगी, दिल्ली, 2002, पृ. 171-172
144. इस प्रकार के प्रयासों में कठिनाई यह है कि इन शब्दों का सन्दर्भ-भेद से पर्यायशः प्रयोग मिलता हे। व्यापकवाच्यता वाले शब्दों का व्याप्यवाच्यता वाले क्षेत्रों में तो बहुतायत से प्रयोग दीखता है, पर कभी-कभी इसका विलोम भी देखने को मिलता है। अतः इस प्रकार के प्रयास अन्तरिम ही कहे जा सकते हैं।
145. अनुसंधानं प्रत्यभिज्ञानमपि एतदुभयमेलनात्मकम् अत्रैव अंतर्भूतम्।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 188-89
146. न केवलं पूर्वोक्तयुक्तिभिर्ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वं नास्तीत्येतावतैव स्मरणज्ञानेन पूर्वानुभवस्य विषयीकारो निषिध्यते, यावत् युक्तत्यन्तरेण अपि। तथा हि घटं स्मरामि इति ज्ञाने घटस्यैव विषयतया प्रतिभासः, न पूर्वानुभवस्य। स केवलं स्मरणज्ञानेनैव सह मिलितो भाति।–ई.प्र.वि.वि., 1, पृ. 262
147. एवं 'स एवाऽयं घटः' इति घटाद्यनुसन्धानेऽपि विकल्पत्वं मन्तव्यम्, किन्तु एतासु अनुसन्धानभूमिषु विद्याशक्तिराधिक्येन अचिरद्युतिवद् दीप्यते इति तासां परपदपरिशीलनप्रथमकल्पाभ्युपायत्वम् अभ्युपागमन् गुरवः।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 326-27
148. अहंप्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्माऽपि वाग्वपुः। नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चयः।।–ई.प्र.का. 1.1.6
149. अन्यव्यवच्छेदनं विकल्पः ... तेन विकल्पे तच्च निश्चेतव्यम्, अतच्च अपोहिव्यं भवति। –ई.प्र.का. 1, पृ. 304-305

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

150. उभयविषयतया इति निषेधभागस्य अतद्रूपं विषयो, विधिभागस्य तु तद्रूपं, विविधं हि कल्पनं विधीयमाननिषिध्यमानतयेति विकल्पनम्।–ई.प्र.वि.वि., 2, पृ.281
151. तत्र शुद्धेऽहंप्रत्यवमर्शे प्रतियोगी न कश्चिदपोहितव्यः भवति।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 313
152. अहंप्रत्यवमर्शो द्विधा– शुद्धो मायीयश्च। तत्र शुद्धो यः संविन्मात्रे विश्वाभिन्ने विश्वच्छायाच्छुरिताच्छात्मनि वा। अशुद्धस्तु वेद्यरूपे शरीरादौ। तत्र शुद्धेऽहंप्रत्यवमर्शे प्रतियोगी न कश्चिदपोहितव्यः संभवति। अशुद्धस्तु वेद्यरूपे शरीरादौ अन्यस्माद् देहादेर्घटादेश्च व्यवच्छेदेन भवन् विकल्प एव।–वही, पृ. 313-14
153. द्विविधो चायम् अहंप्रत्ययो द्विधा–अनुभवमात्ररूपश्चानुसंधानात्मा च। ... तत्र शुद्धे विकल्परूपत्वमप्रतिष्ठमेव इत्युक्तम्, अशुद्धे तु अनुभवरूपे विकल्पत्वमुपपादितम्, अशुद्धे तु अनुसंधानात्मतया अभेदस्य प्रस्फुरणात् कश्चिदविकल्पत्वं शङ्केत तस्य व्यामोहं व्यपोहितुमाह ... सा योजना सर्वा कल्पना विकल्प एव, न तु शुद्धः प्रत्यवमर्शः।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 323-325
154. अहं सुखी च दुःखी च रक्ताश्चेत्यादिसंविदः।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ताः स्फुटम्॥–स्प. का.। 4, भट्टोत्पल और क्षेमराज दोनों की दृष्टि में यहाँ प्रत्यभिज्ञा का निरूपण हुआ है।
155. यदि हि तस्य देहादेः सर्वत्र पूर्णत्वम् अवच्छेदहीनत्वं च पश्यन् अनुसन्धानम् अहमिदम् विदध्यात् तदियं सदाशिवभूः केन विकल्पास्पदत्वेन भण्येत यावता विच्छिन्ने एव सोऽनुसंधिः।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 326
156. गोपीनाथकविराज्ज, थॉट्स, पृ. 77
157. पदार्थनिर्णयं विश्वप्रमेयीकरणप्रतिलब्धतद्विश्वोत्तीर्णप्रमातृपदहृदयङ्गमीकाराभिप्रायेण निरूपयितुम् ...। –ई.प्र.वि., 2, पृ. 213
158. परमेश्वरस्य हि परमार्थतः शक्तयो यस्तत्त्वग्रामः, काचित्तु शक्तिरन्यबहुतरशक्तिंकोडीकारं कुर्वती निकटत्वादुपास्या घटस्येव घटात्मिका, काचिदन्यापेक्षिणी स्वरूपमात्रनिष्ठा द्वारा घटस्येव सत्तात्मिका।–ई.प्र.वि., 2, पृ. 222
159. तावन्मलसादनात् सत्वरं शक्तिमंत्रापकत्वात् वा उपासितुं योग्या।–भा., 2, पृ. 222
160. इति घटे एव यथा भेददृष्टिः तथा पारमेश्वरे प्रकाश इति व्यवहारोऽपि भगवदनुगृहीहीतानां परमार्थप्रवेशे प्रत्युत अभ्युपायः न तु विरोधी।–ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 157
161. परमशिवभट्टारकस्य शक्तिः स्वातन्त्र्यलक्षणा महती तत्त्वानाम् अन्योन्यप्रयोजकभावे पर्यन्ततः सामान्यप्रयोजकत्वे च प्रगल्भा भवत्युज्जृम्भते पृथिव्यादिभाववर्गमिव अनाश्रितशिवभट्टारकमपि क्रोडीकृत्य अभिवर्तते तत्तद्रूपतया परिस्फुरति इत्यर्थः।–म.मं. प., पृ. 67
162. सर्वाणि हि तत्त्वानि भगवतः शक्तिरूपाणि स्पन्द एव। ... काचित्तु शक्तिरनन्ताः शक्तीराक्षिप्य वर्तमाना नेदीयसी भगवतः, अन्यास्तु दूरा अल्पतमा दवीयस्तमा इति उपासना विचित्रा आगमेषु दर्शिताः।–ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 265

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

163. स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याद्भवेच्छिवः॥–वि. भै. 109; ममैव भैरवस्येता विश्वभंग्यो विभेदिताः।–वही, 110

164. 'सोऽयं ममायं विभव इति प्रत्यभिजानतः' इति उक्तनयेन द्विविधां प्रत्यभिज्ञां दर्शयन्।–विज्ञानभैरवोद्योत, काश्मीर ग्रन्थावली, पृ. 95। यहाँ उद्योतकार मुद्रित पाठ 'परिजानतः' के स्थान पर 'प्रत्यभिजानतः' पढ़ते हैं।

165. अभिनवगुप्त, (ई.प्र.का. 4.1.12 पर) विमर्शिनी में इन दोनों ज्ञानाकारों की व्याख्या इस प्रकार देते हैं–1. न हि पृथगात्मा नाम पशुः कश्चिदन्योऽप्यहम्, अपितु यः प्रकाशात्मा स एव अहम्, 2. विकल्पसृष्टिरपि मम स्वातन्त्र्यलक्षणो विभवः।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 304-305

166. भास्कर का निष्कर्ष हैः तत् ईश्वरविषयम् ऐश्वर्यम् ममैवेदमैश्वर्यमिति प्रत्यभिज्ञाविषयीकार्यम्, फलतः स ईश्वरः 'अयम् अहमेव' इति प्रत्यभिज्ञा कार्या इति भावः। –भा., 1, पृ. 342

167. वस्तुतः शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध की उपलक्षणात्मकता को लेकर सम्प्रदाय में दृष्टि भेद मिलता है। एक दृष्टि है जो परमशिव को शुद्ध, शुद्ध सृष्टि को शुद्धाशुद्ध और अशुद्ध सृष्टि को अशुद्ध मानती है। दूसरी दृष्टि की चर्चा ऊपर की गयी है।

168. निराभासात् पूर्णादहमिति पुरा भासयति यत्।

169. न चात्र जन्यजनकभावनिबन्धनः साध्यसाधनभावः, येनैकस्मिन् वस्तुनि विरोधः स्यात् अपितु व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकभावेन। तत एकस्य वस्तुनः किञ्चिद्रूपं प्रमाणं किञ्चित् प्रमाणफलं न विरुध्यते।–न्यायबिन्दु 1.21 पर धर्मोत्तर, पृ. 82

170. यथोक्तं 'तद्वशात्तद्व्यवस्थानात् ...' इति।–ई.प्र.वि., 2, पृ. 75

171. तत एव उक्तं 'तद्वशात् तद्व्यवस्थानात् इति।–ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 72 उद्धृत कारिका का अंश प्रमाणवार्तिक 3.308 से लिया गया है, यह संकेत सबसे पहले ई.प्र.वि.वि. 3, पृ. 72 में मिलता है। टोरेला ने वहीं से लिया है।' देखिए वृत्ति, पृ. 162, पादटिप्पणी 4

172. व्यापारश्च व्याप्रियमाणात् कर्तुर्व्यापार्यमाणाद्वा करणाद् अनन्यात्मक एव युक्तः इति मुख्यत्वेन प्रमाणफलयोरभेद एव न्याय्यः।–ई.प्र.वि., 3, पृ. 72; और भी, ई.प्र.वि., 2, पृ. 75

173. ननु एवं पर्यायत्वमुक्तं भवेत् न तु फलभावः, आह बाह्योन्मुखतया प्रकाशरूपया तत्र तत् प्रमाणम्, या तु तस्यैव अन्तर्मुखात्मा विमर्शरूपता प्राक् उपपादिता तत्स्वभावेन केवलं विषयदशासंकुचितेन स एव बोधः फलम्।–ई.प्र.वि., 2, पृ. 74; और भी, ई.प्र.वि.वि., 3, पृ. 72

174. एवं यतो नीलप्रकाशः ततो नीलमिदम् इति परामर्शः इति एकरूपत्वेऽपि हेतुफलभावः।–ई.प्र.वि., 2, पृ. 74-75

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

175. बौद्ध स्रोतों में और भी विस्तार के लिए देखें–"The Pratyabhijna and the Logical-Epistemological School of Buddhism". R. Torella, Ritual and Speculation, सं. टी. गौड्रियान, आलबेनी, 1992, पृ. 330-331, और वृत्ति, पृ. 162-63 पादटिप्पणी 4

176. ननु भातभासमानैकीकरणरूपा प्रत्यभिज्ञात्र न युक्ता। असदेतत्। आत्मा हि भातो भासमानश्च। तदीश्वरत्वं तु तदीयस्वातन्त्र्येण मध्ये विस्मृतं तद्विषयत्वेन प्रत्यभिज्ञायते स ईश्वरोऽहमेवेति। भासमानस्याप्यात्मनो विस्मृतिर्जायते एव अन्यथा दशमस्त्वमसि इति न्यायेन तत्त्वमसि इत्युपदेशायोगात्।–भा., 1, वृ. 11

177. भास्कर यहाँ पर प्रतितर्क कर सकते हैं कि 'भासमान' की विस्मृति होते ही वह 'भात' हो जाएगा अत: इस प्रस्तुति में कोई अनौचित्य नहीं है।

178. अतएव आत्मनोऽमी विकल्पाद्या: शक्तिविशेषा: तद्विश्रान्तशरीरत्वात् इति दर्शितं ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान् इत्यत्र।–ई.प्र.वि., 1, पृ. 186

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

पुस्तक समीक्षा

जैन वस्तुस्वातन्त्र्यवाद, लेखिका डॉ. अल्पना जैन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गौर कांप्लैक्स, परकोटा रोड, सागर (म.प्र.), पृ. 14 + 229, मूल्य 300/- प्रथम संस्करण - 2005.

(विश्व में विभिन्न एवं विरोधी स्वभाव के अनेक द्रव्य हैं। किन्तु फिर भी, उनमें एक व्यवस्था या प्रबन्ध देखा जाता है, जिसे देखकर प्रश्न उठता है कि विश्व में अथवा विश्व के विभिन्न स्वभाव वाले द्रव्यों में उस व्यवस्था अथवा प्रबन्ध का आधार क्या है? उसे कैसे समझें और कैसे उसकी व्याख्या करें? इन प्रश्नों का उत्तर है 'द्रव्य की स्वतन्त्रता'। द्रव्य की स्वतन्त्रता से अभिप्राय है उसके अस्तित्व, क्रिया और ज्ञान की स्वतन्त्रता। पुनः प्रश्न उठता है कि द्रव्यों की स्वतन्त्रता को कैसे समझें? उत्तर है द्रव्य के स्वरूप, निमित्तोपादान, अहिंसा, अभाव, कर्त्तृ-कर्म, षट्कारक, क्रमबद्धपर्याय, ज्ञेय आदि सन्दर्भों में समझें। यही इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है।)

पुस्तक **प्ररोचना, पुरोवाक्, प्रस्तावना, सात अध्याय, उपसंहार,** दो परिशिष्ट और **बिब्लियोग्राफी** में विभिक्त है। पुस्तक **'प्ररोचना'** से आरम्भ होती है जो (श्री) मन्नूलाल जैन ने लिखी है। (श्री) मन्नूलाल जैन ने इस पुस्तक को उच्च कोटि का ग्रन्थ बतलाते हुए लिखा है, "जैन दर्शन का निष्पक्षता एवं गवेषणापूर्ण अध्ययन करने वाले प्रबुद्ध पाठकों के लिए इस कृति में ऐसे अनेक स्थल प्राप्त होंगे जहां उन्हें अपने पूर्वाग्रहों एवं रूढ़ियों पर आधारित मन्तव्यों को विराम देकर, अति महत्त्वपूर्ण नवीन विचार-बिन्दुओं पर निर्णय लेकर अपने चिन्तन को पुनः परिभाषित कर, स्पष्ट नये स्वस्थ दिशा-निर्देश देने को अग्रसर होना होगा। जैन दर्शन में प्रवेश करने वालों को एवं जैन सिद्धान्तों के मर्म को ग्रहण कर उसका तल-स्पर्शी तत्त्वज्ञान करने वालों के लिए यह रचना दीप-स्तम्भ का कार्य करने में पूर्णरूप से सक्षम होगी।" **'प्ररोचना'** के लेखक के इस वक्तव्य को अतिशयोक्ति एवं निराधार महिमा मण्डन ही कहा जायेगा, क्योंकि लेखिका को जैन एवं जैनेतर कई सिद्धान्त एवं अवधारणायें स्पष्ट ही नहीं हैं। उदाहरण के लिए जैन दर्शन की 'सत्' एवं 'द्रव्य' की अवधारणा ले सकते हैं, जो कि जैन दर्शन की एक मौलिक अवधारणा है।

पुस्तक का **'पुरोवाक्'–'विश्व व्यवस्था एवं वस्तुस्वातन्त्र्य'**–डॉ. अम्बिका दत्त शर्मा द्वारा लिखा गया है। डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा ने 'पुरोवाक्' में उन विचारों को, जिन्हें लेखिका ने अपनी पुस्तक में कहना चाहा है, संक्षेप रूप में अच्छे ढंग से प्रस्तुत कर दिया है। डॉ. शर्मा को साधुवाद। डॉ. शर्मा के अनुसार जैन दर्शन में वस्तुस्वातन्त्र्य की अवधारणा अपने व्यापक अर्थ में विश्व-व्यवस्था या वैश्वीय प्रबन्ध की समस्या में मूलित

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अवधारणा है। यह विश्व-व्यवस्था को समझने, उसे व्याख्यायित करने का दार्शनिक उपक्रम है। अन्यत्र डॉ. शर्मा ने इसे जिनागम की 'विश्वदृष्टि' भी कहा है। **'वस्तुस्वातन्त्र्य'** से अभिप्राय है 'वस्तु' अर्थात् 'द्रव्य' की स्वतन्त्रता। यह स्वतन्त्रता तीन प्रकार की होती है–**अस्तित्वात्मक, क्रियात्मक और ज्ञानात्मक**। डॉ. शर्मा के अनुसार जैन दर्शन में वस्तु की तीनों स्वतन्त्रताओं को स्वीकार किया गया है और वस्तु की यह स्वतन्त्रता जगत्-व्यवस्था का मूलाधार है। डॉ. शर्मा ने यहां जो 'वस्तु' शब्द का प्रयोग किया है उसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। सम्भवतः डॉ. शर्मा ने 'वस्तु' शब्द का प्रयोग 'द्रव्य' के लिए किया है। यदि 'वस्तु' शब्द का प्रयोग 'द्रव्य' के लिए किया गया है तब यह शब्द 'द्रव्य' के लिए उपयुक्त नहीं है। दूसरे, जैन दर्शन में 'वस्तु' या 'द्रव्य' को मात्र स्वतन्त्र ही नहीं माना गया है, उसे परतन्त्र भी माना गया है, क्योंकि जैन दर्शन सापेक्षतावादी एवं अनेकान्तवादी दर्शन है।

'प्रस्तावना' स्वयं लेखिका ने लिखी है। लेखिका ने **'वस्तुस्वातन्त्र्य'** को जैन दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त माना है, तथा यह माना है कि **वस्तुस्वातन्त्र्य** में जैन दर्शन के सभी सिद्धान्त न केवल अन्तर्गर्भित हैं बल्कि उसी से अनुप्राणित भी होते हैं। किन्तु यह लेखिका द्वारा सिद्ध किया जाना अभी शेष है।

प्ररोचना, पुरोवाक् और प्रस्तावना के पृष्ठों पर पृष्ठ संख्या अंकित नहीं है, जो होनी चाहिए थी।

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, पुस्तक के सात अध्याय हैं–**(1) वस्तुस्वातन्त्र्य-मूलक द्रव्य की अवधारणा, (2) निमित्तोपादानवाद एवं वस्तुस्वातन्त्र्य, (3) अंहिसा एवं वस्तुस्वातंत्र्य, (4) अभाव एवं वस्तुस्वातन्त्र्य, (5) कर्त्तृ-कर्म मीमांसा एवं वस्तुस्वातन्त्र्य, (6) षट्कारक मीमांसा एवं वस्तुस्वातन्त्र्य, और (7) क्रमबद्ध पर्याय एवं वस्तुस्वातन्त्र्य**। इन सभी अध्यायों में लेखिका ने विभिन्न सन्दर्भों में 'वस्तुस्वातन्त्र्य' की स्थापना एवं सिद्धि करने का प्रयास किया है, और लेखिका का यह प्रयास स्वागत योग्य है।

वस्तुस्वातन्त्र्य के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए लेखिका ने दो शब्दों–'वस्तु' और स्वातन्त्र्य' के अर्थ को स्पष्ट किया है। लेखिका ने **पंचाध्यायी** (पूर्वार्द्ध) गाथा 43 का सन्दर्भ देते हुए लिखा है, "जैन-दर्शन में वस्तु, सत्ता, द्रव्य, तत्त्व, पदार्थ, अर्थ, सामान्य, अन्वयी, धर्मी सभी सामान्य रूप से एक ही अर्थ के वाचक हैं। एक ही वस्तु को विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। इनमें शब्द-भेद होते हुए भी अर्थ-भेद किंचित् मात्र भी नहीं हैं।" पृ. 31 किन्तु यह सही नहीं है, क्योंकि जैन दर्शन में 'द्रव्य', 'पदार्थ' और 'तत्त्व' ये तीन अलग-अलग अवधारणाएँ मान्य हैं। दूसरे, सत्ता को, जो कि किसी वस्तु का गुण होता है, वस्तु नहीं कह सकते। तीसरे, किसी एक साधारण ग्रन्थ में द्रव्य आदि को एक कह देने मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि वह सम्पूर्ण जैन परम्परा के अनुसार है अथवा सभी जैन दार्शनिकों को मान्य है। इसलिए यहाँ 'वस्तु' शब्द का अर्थ अस्पष्ट है। सम्भवतः

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लेखिका ने 'वस्तु' शब्द 'द्रव्य' के लिए प्रयुक्त किया है जो द्रव्य के लिए उपयुक्त शब्द नहीं है। **'स्वतन्त्रता'** के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लेखिका ने लिखा है–"इस शोध-प्रबन्ध में 'स्वतन्त्रता' का तात्पर्य वस्तु की कार्य करने की स्वतन्त्रता परिणमनशीलता को कहा है।" पृ. 17। अन्य शब्दों में, "प्रत्येक वस्तु का स्वतन्त्र रूप से परिणमन (कार्य) करते हुए, अन्य वस्तु के परिणमन में हस्तक्षेप नहीं करना ही स्वतन्त्रता है।" पृ. 3। इस प्रकार **'वस्तुस्वातन्त्र्य'** से अभिप्राय है **'वस्तु की स्वतन्त्रता स्वतंत्र परिणमनशीलता'**, पृ. 19, अर्थात् प्रत्येक वस्तु का स्वतन्त्र व स्वाधीन परिणमन। **'वस्तुस्वातन्त्र्य'** की अवधारणा के अनुसार विश्व के समस्त द्रव्यों का परिणमन स्वतन्त्र है। कोई भी किसी का कर्त्ता या हर्ता नहीं है, और कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य के परिणमन में किंचित् मात्र भी हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। पृ. 89 व 93। यहाँ जीव और पुद्गल (मनस् और शरीर) के सम्बन्ध को ध्यान में रखकर बात की जाती तो शायद विचार अधिक स्पष्ट होता।

पुस्तक के प्रथम अध्याय में विभिन्न ग्रन्थों के सन्दर्भ देकर यह सिद्ध करने की कोशिश की गई है कि द्रव्य का अस्तित्व और परिणमन स्वतन्त्र है। इस हेतु प्रथम अध्याय में **'द्रव्य'** की अवधारणा की चर्चा की गई है। किन्तु इस अध्याय का नाम **'वस्तुस्वातन्त्र्य–मूलक द्रव्य की अवधारणा'** रखा है जो ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ प्रश्न उठता है कि **'वस्तुस्वातन्त्र्य मूलक द्रव्य'** और **'द्रव्य'** में क्या भेद है? वस्तु और द्रव्य में क्या भेद है? दूसरे, जब लेखिका के अनुसार वस्तु और द्रव्य एक ही अर्थ के वाचक हैं तब **'वस्तुस्वातन्त्र्यमूलक द्रव्य'** कहने का क्या अभिप्राय है? यदि इसको हम इस प्रकार लिखें **'द्रव्यस्वातन्त्र्यमूलक द्रव्य की अवधारणा'** तब इसका अर्थ क्या होगा? शायद कुछ नहीं। स्वातन्त्र्य के पहले 'वस्तु' शब्द आ गया तब पुनः स्वातन्त्र्य के बाद में 'द्रव्य' शब्द रखने का क्या औचित्य है? इसी प्रकार पृ. 9 पर बिन्दु (4) का शीर्षक है **'द्रव्य - गुण - पर्यायात्मक वस्तु का स्वरूप'**। इस शीर्षक का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि लेखिका के अनुसार 'द्रव्य' और 'वस्तु' एक ही हैं। पृ. 3 पर बिन्दु (2) का शीर्षक है **'वस्तु का स्वरूप'** और पृ. 9 पर बिन्दु 4 (1) का शीर्षक है **'द्रव्य का स्वरूप'**। जब 'वस्तु' और 'द्रव्य' एक ही है तब इन दो शीर्षकों के माध्यम से लेखिका क्या कहना चाहती है, यह स्पष्ट नहीं है।

पृ. 5 पर बिन्दु (3) में **'वस्तु का परिणामी-नित्य-स्वरूप'** की चर्चा करते हुए लिखा है, "वह (द्रव्य) ... गुण-पर्याय का आश्रय है", और पृ. 11 पर लिखा है, "... आचार्य उमास्वामी ने गुणों को द्रव्य का आश्रय व स्वयं दूसरे गुणों से रहित अर्थात् निर्गुण बतलाया है।" ये दोनों वक्तव्य विरोधी हैं तथा ग़लत भी, क्योंकि जैन दर्शन में द्रव्य न तो गुणों का आश्रय है और न ही गुण द्रव्य का आश्रय। द्रव्य और गुणों में गुण-गुणी का सम्बन्ध वैसा ही सम्बन्ध नहीं है जैसा न्याय-वैशेषिक दर्शन में मान्य है और न ही जैन-दर्शन में 'द्रव्य' की गुणों से भिन्न एवं स्वतन्त्र वस्तुसत्ता वैसी ही है जैसी न्याय - वैशेषिक

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

स्वीकार करते हैं। अर्थात् जैन दर्शन में 'द्रव्य' की गुणों से भिन्न एवं स्वतन्त्र कोई वस्तुसत्ता नहीं है।

पृ. 6 पर 'सत्' के लक्षण–**'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तसत्'** को स्पष्ट करते हुए लिखा है,–"जैसे मिट्टी अपने पिण्ड रूप पर्याय का व्यय करती हुई घट रूप नवीन पर्याय का उत्पाद करती हुई, घट व पिण्ड दोनों अवस्थाओं में मिट्टी रूप ध्रुव अस्तित्व से तादात्म्य रखती हुई अपने त्रिलक्षणात्मक अस्तित्व को सूचित करती है।" यहाँ यह तो ठीक है कि 'उत्पाद' और 'व्यय' तो पर्याय की अपेक्षा से होता है, किन्तु यह सही नहीं है कि स्थायित्व/ध्रुवता मिट्टी की अपेक्षा से है। स्थायित्व/ध्रुवता मिट्टी की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि मिट्टी तो स्वयं 'पुद्गल' की एक पर्याय है, बल्कि स्थायित्व पुद्गल के गुणों–रूप, रस,गंध और स्पर्श–की अपेक्षा से होता है। पृ. 104 पर 'गुण' के सन्दर्भ में लिखा है, गुण वस्तु के कूटस्थ नित्य व अपरिवर्तनशील धर्म हैं। लेखिका का यह कहना भी ग़लत है, क्योंकि कूटस्थ नित्य व अपरिवर्तनशील का अर्थ है किसी भी प्रकार की क्रिया या परिवर्तन का नहीं होना, जबकि जैन दर्शन में यह मान्यता है कि 'गुण' में आन्तरिक परिवर्तन निरन्तर होता रहता है। गुणों को स्थायी या नित्य कहने का अभिप्राय है कि एक गुण सदैव वही गुण रहता है, वह किसी अन्य गुण में नहीं बदल जाता। जैसे रूप सदैव रूप ही रहेगा, रस सदैव रस ही रहेगा, ज्ञान सदैव ज्ञान ही रहेगा। लेकिन जैनों के अनुसार, रूप, रस और ज्ञान में आन्तरिक परिवर्तन निरन्तर होता रहता है। अन्त में, प्रथम अध्याय को पढ़कर, जो कि इस पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है, और **'वस्तुस्वातन्त्र्य'** की अवधारणा का आधार भी है, सर्वाधिक असन्तोष होता है, तथा यह स्पष्ट होता है कि लेखिका को जैन **'द्रव्य'** और **'सत्'** की अवधारणा स्पष्ट नहीं है।

दूसरे अध्याय में निमित्तोपादान के द्वारा **'वस्तुस्वातन्त्र्य'** की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "उपादान कारण पूर्ण तथा स्वतन्त्र, स्वाधीन व स्व-शक्ति-सामर्थ्य से युक्त है" पृ. 55। वह स्वयं अपनी शक्ति से ही परिणमित होता है "कार्य की उत्पत्ति के समय तदनुकूल निमित्त उपस्थित अवश्य रहता है, किन्तु वह स्वयं शक्ति सम्पन्न उपादान को कार्यरूप परिणमित नहीं कराता है। अतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य को करने में पूर्णतः असमर्थ है, अकर्ता है, यही वस्तु की स्वतन्त्रता है और स्वतन्त्र वस्तु-व्यवस्था में 'पर' का किंचित् मात्र हस्तक्षेप नहीं है" पृ. 56। अर्थात् कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के परिणमन या कार्य में किंचित् मात्र भी सहायता या हस्तक्षेप नहीं कर सकता। पृ. 93। यह एक महत्त्वपूर्ण विचार है जिस पर विस्तार से विचार एवं विश्लेषण होना चाहिए था, जो नहीं हुआ। कारण–कार्य सम्बन्धी इस विचार को जैन दार्शनिकों की अपेक्षा अरस्तू ने, यद्यपि अरस्तु और जैन विचारों में भेद है, अधिक अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है। जैन विचारों के सन्दर्भ में मैं यहाँ दो बातें कहना चाहूँगा। पहली, क्या निमित्त के अभाव में उपादान कार्य रूप में परिणमित होने में समर्थ है? यदि समर्थ है तब निमित्त कारण की आवश्यकता क्यों है? और यदि समर्थ नहीं है तब वह परिणमन/क्रिया में स्वतन्त्र कैसे है? दूसरी, कारण-कार्य

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

सम्बन्धी ये विचार, एक सीमा तक, द्रव्य के स्वाभाविक कार्य अथवा पर्याय के सन्दर्भ में तो ठीक हैं, किन्तु कृत्रिम कार्य अथवा पर्याय के सन्दर्भ में लागू नहीं होंगे।

तीसरे अध्याय में **'अहिंसा'** के माध्यम से **वस्तुस्वातन्त्र्य** की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''वस्तुस्वातन्त्र्य के परिप्रेक्ष्य में अहिंसा की अवधारणा इस तथ्य का परिज्ञान कराती है कि कोई भी जीव अपने से भिन्न परजीव को न तो मार सकता है और न ही बचा सकता है, क्योंकि प्रत्येक जीव एक-दूसरे के लिए सर्वथा अन्य जीव है।'' पृ. 67। और, ''अहिंसा के सन्दर्भ में वस्तुस्वातन्त्र्य की अवधारणा यह है कि कोई भी जीव दूसरे जीव के जीवन-मरण का कर्त्ता नहीं हो सकता। प्रत्येक जीव का जीवन-मरण स्वतन्त्र व स्वाधीन है। उसके जीवन-मरण में किसी का किंचित् मात्र भी हस्तक्षेप सम्भव नहीं है।'' पृ. 90। ''जहाँ तक दूसरे जीवों को मारने या जिलाने का सम्बन्ध है, वह जीव की शक्ति व सामर्थ्य के बाहर है, क्योंकि जीवन-मरण, सुख-दुःख आदि जीवों के स्वयंकृत **'कर्मोदय'** के अधीन हैं।'' लेकिन लेखिका को मालूम होना चाहिए कि जैन दर्शन के अनुसार 'कर्म' पुद्गल रूप है और पुद्गल अन्य द्रव्य है। यह स्पष्ट है कि जीव और पुद्गल के सम्बन्ध की अवस्था में जीव के परिणमन को पुद्गल प्रभावित करता है और पुद्गल के परिणमन को जीव। इस बात को हम निश्चय और व्यवहार के भ्रम में पड़कर भी नज़रअन्दाज नहीं कर सकते। दूसरे, अहिंसा का सम्बन्ध जीवद्रव्य से है, अन्य द्रव्यों से नहीं। तब, अहिंसा से अन्य द्रव्यों की स्वतन्त्रता कैसे सिद्ध की जा सकती है?

चौथे अध्याय में **'अभाव'** के द्वारा **'वस्तुस्वातन्त्र्य'** को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। लेखिका के अनुसार जैन दर्शन में 'अभाव' के चार भेदों का प्रतिपादन किया गया है, **प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव**। अभाव के प्रारम्भिक तीन भेद 'पर्यायों' की स्वतन्त्रता को सिद्ध करते हैं और अत्यंताभाव 'द्रव्यों' की स्वतन्त्रता को। पृ. 104, 125 व 126। जैन दर्शन में अभाव के द्वारा 'द्रव्यों' या 'गुणों' की स्वतन्त्रता सिद्ध होती है यह तो एक सीमा तक ठीक है, किन्तु 'अभाव' के द्वारा 'पर्यायों' की स्वतन्त्रता भी सिद्ध होती है यह तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि, प्रथम तो, जो उत्पन्न होता है वह स्वतन्त्र नहीं होता। 'पर्याय' उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। दूसरे, यदि पर्याय स्वतन्त्र हैं तब प्रश्न उठता है कि पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती पर्यायों में क्या कोई सम्बन्ध होता है? यदि नहीं, तब जैन दर्शन में **'क्रमबद्ध पर्याय'** की बात नहीं की जा सकती, और यदि उनमें कोई सम्बन्ध होता है तब वे स्वतन्त्र नहीं हो सकते। यह बात, सम्बन्ध की बात, स्वयं लेखिका ने भी पृ. 156 पर स्वीकार की है।

पाँचवें अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया है कि द्रव्य केवल अपने परिणाम या पर्याय का ही कर्त्ता होता है और वही परिणाम या पर्याय उसका कर्म होता है। प्रत्येक द्रव्य की इस कर्तृ-कर्म व्यवस्था में अन्य द्रव्य का किंचित् मात्र हस्तक्षेप सम्भव नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने परिणाम या पर्याय का जनक होने से पूर्णतः स्वतन्त्र है। पृ. 133 व 155। पृ. 156 पर लिखा है, ''विभिन्न द्रव्यों के बीच सब प्रकार के सम्बन्ध का

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

निषेध ही वस्तुतः पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा है, क्योंकि 'पर' के साथ किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की स्वीकृति परतन्त्रता को सूचित करती है तथा अन्य सब सम्बन्धों की अपेक्षा कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध सर्वाधिक परतन्त्रता का सूचक है।'' यह विचार अधिक स्पष्ट होता यदि यहाँ, इस सन्दर्भ में, 'बन्धन' की अवधारणा को स्पष्ट किया होता।

छठे अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया है कि **षट्कारक-सिद्धान्त** से भी वस्तु की स्वतन्त्रता सिद्ध होती है। लेखिका के अनुसार षट्कारक प्रत्येक वस्तु या द्रव्य में स्वभावतः विद्यमान होते हैं, तथा वस्तु सब समय षट्कारक रूप परिणमन करती रहती है। प्रत्येक वस्तु का परिणमन अथवा उसके पर्याय स्वतन्त्र अपने कारकों से उत्पन्न होते हैं, उन्हें अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं होती। अतः द्रव्य या वस्तु अपने परिणमन में स्वतन्त्र है। पृ. 165 व 175

सातवें अध्याय में **'क्रमबद्ध-पर्याय'** के द्वारा **'वस्तुस्वातन्त्र्य'** की सिद्धि करने का प्रयास किया गया है जो इस पुस्तक का सबसे कमज़ोर पक्ष है।

पुस्तक के अध्यायों के सन्दर्भ में अनेक त्रुटियाँ हैं। अधिकांश सन्दर्भों में ग्रन्थों के प्रकाशन एवं प्रकाशन वर्ष नहीं लिखे गये हैं, जो लिखे जाने चाहिएं थे। प्रथम अध्याय के सन्दर्भ संख्या 76, 77 और 78 में, किसी ग्रन्थ के मूल वक्तव्य लिखकर, पृ. संख्या क्रमशः 11, 186 और 306 लिखे गये हैं। ये पृष्ठ संख्या किस ग्रन्थ के हैं यह नहीं लिखा गया है। दूसरे अध्याय का सन्दर्भ संख्या 21 (ख) किस ग्रन्थ से लिया गया है, यह नहीं लिखा गया है। तीसरे अध्याय का सन्दर्भ संख्या 107 **सर्वदर्शन संग्रह** से लिया गया है, किन्तु किस अध्याय का कौनसा सूत्र है यह अंकित नहीं किया गया है। इसी अध्याय का संदर्भ संख्या 111, किस ग्रन्थ से लिया गया है यह नहीं लिखा गया है। चौथे अध्याय के सन्दर्भ संख्या 10 में पृ. सं. 288 लिखी गयी है। किन्तु ग्रन्थ का नाम नहीं लिखा। अध्याय पाँच की सन्दर्भ संख्या 1 में मात्र **पाणिनी-व्याकरण** लिखा है, सूत्र संख्या आदि नहीं।

इस पुस्तक में लेखिका जैन एवं जैनेतर सिद्धान्तों और उनके सन्दर्भों का संकलन करने, तथा जैन सिद्धान्तों को श्रेष्ठ बतलाने में ही उलझी रही है, जबकि लेखिका का मुख्य ध्येय **'वस्तुस्वातन्त्र्य'** की अवधारणा पर अधिक ध्यान देना था। दूसरे, ध्यातव्य है कि लेखिका को जैन ग्रन्थों, जैन दार्शनिक अवधारणाओं और सिद्धान्तों में कहीं कोई तार्किक दोष दिखाई नहीं दिया, किन्तु जैनेतर दार्शनिक अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों में दोष ही दोष दिखाई दिये। क्या यही वास्तविकता है? इसे विचार की संकीर्णता एवं वैचारिक पक्षपात नहीं कहा जाए तो और क्या कहा जाये?

पुस्तक में सन्दर्भों का संकलन अधिक होने के कारण विचार एवं विश्लेषण कम हुआ, तथा अध्यायों में वैचारिक क्रम का अभाव भी है। इसलिए यह एक दार्शनिक ग्रन्थ कम, संकलन अधिक है। पुस्तक की रचना में जैन दर्शन में मान्य अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद सिद्धान्तों की अधिकांशतः उपेक्षा हुई है जो नहीं होनी चाहिए थी। इसी प्रकार

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

अंग साहित्य और **श्वेताम्बर ग्रन्थों** की भी उपेक्षा हुई है। अतः इस रचना को सम्पूर्ण जैन दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ नहीं माना जा सकता।

अन्त में, लेखिका तथाकथित **'जैन वस्तुस्वातन्त्र्य'** की अवधारणा से अभी बहुत दूर है। यह अवधारणा तब स्पष्ट होगी जब जैनों की 'सत्', 'द्रव्य', 'द्रव्य का विधि-निषेध रूप', व 'अगुरुलघुत्व' की अवधारणा एवं पंचास्तिकाय की गाथा 7 **'अण्णोण्णं पविसंता देंता ओगासमण्णमण्णस्स, मेलंता वि य णिच्चं संग सभावं ण विजहंति'** स्पष्ट हो जायेंगे। इन अवधारणाओं को गम्भीरता से एवं गहराई तक समझने की आवश्यकता है,इसके लिए **भगवतीसूत्र, धवला, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, सन्मतितर्क** और **लघुतत्त्वस्फोट** जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का पाश्चात्य विश्लेषणात्मक दर्शन के साथ गहन अध्ययन करना होगा। आशा है इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण के आने तक लेखिका अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हो जायेगी। इसके लिए हमारी शुभकामना है।

राजवीर सिंह शेखावत,
525, कृष्ण नगर,
भरतपुर (राज.)-321 001.

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

लाठ सर्वोदय ग्रंथमाला के अन्तर्गत दर्शन प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित ग्रंथ

1.	मूल्यतत्त्व-मीमांसा (शंकर पुरस्कार तथा मंगलाप्रसाद पुरस्कार से सम्मानित)	-	यशदेव शल्य	200.00
2.	चिद्विमर्श	-	यशदेव शल्य	175.00
3.	तत्त्व-चिन्तन	-	यशदेव शल्य	200.00
4.	काव्य-विमर्श	-	यशदेव शल्य	250.00
5.	मुख्य भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन-धाराएं	-	यशदेव शल्य भगवती	150.00
6.	धर्म-संकट	-	मुकुंद लाठ	200.00

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai

Digitization by Arya Samaj Charitable Foundation, Chennai